जैन-अभिलेख-परिशीलन

डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला
सम्पादक एवं नियामक
डॉ. दरबारीलाल कोठिया, सेवानिवृत्त रीडर का. हि. वि. वि.
संस्थापक-पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

जैन अभिलेख परिशीलन

लेखक
डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
डॉ० शीतलचन्द जैन
(मानद मंत्री)
वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट
1314, अजायबघर का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

मूल्य :
रु० 11/50 पैसे

संस्करण प्रथम
सन् 1994

मुद्रक :
मूनलाइट प्रिन्टर्स, जयपुर-3 फोन : 315440

समर्पण

जैनविद्या-प्रेमी, छात्र-स्नेही, छात्रवृत्ति-दाता

धर्म-ध्याता, तीर्थभक्त, विद्वज्जन-स्नेही,

प्रेरणास्रोत, कोशकार, न्यायाचार्य

आदरणीय डॉ. दरबारीलालजी

'कोठिया' बीना के

कर-कमलों में

सादर-सविनय

समर्पित ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसन्धाता स्व० सरस्वतीपुत्र पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित एव डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य बीना द्वारा पल्लवित तथा सम्बर्द्धित ट्रस्ट द्वारा 40 बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

अभी अक्टूबर 94 में इन 41 ग्रन्थों के अतिरिक्त ट्रस्ट प्रकाशन के अन्तर्गत सन्त शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा लिखित 24 ग्रन्थों का प्रकाशन भी श्री दि० जैन समाज, अजमेर के आर्थिक सहयोग से हो चुका हैं।

प्रस्तुत जैन अभिलेख परिशीलन डॉ० कस्तूरचन्दजी 'सुमन' द्वारा लिखित बहुमूल्य कृति है। इस कृति से इतिहास मनीषियों एवं अनुसन्धान करने वाले को तो लाभ होगा ही, साथ में जैनान्वय, जैन सामाजिक पद, संघ व्यवस्था तथा विभिन्न राजवंशों का सप्रमाण परिचय भी प्राप्त होगा। विद्वान लेखक ने काफी श्रम करके इस कृति को लिखा और ट्रस्ट को प्रकाशन हेतु प्रदान किया। एतदर्थ आभारी हैं।

इस ट्रस्ट के समर्पित बीसवीं शताब्दि के प्रख्यात दार्शनिक, वयोवृद्ध मनीषी, पूर्वमानदमत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष आदरणीय डॉ० कोठिया जी के अथक परिश्रम, लगन एवं मार्गदर्शन से बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य प्रगति पर है। अतः उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहे। ट्रस्ट के समस्त सदस्य तथा संयुक्त मंत्री ला० सुरेशचन्द जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है। अभी सितम्बर 94 में ट्रस्ट के कोषाध्यक्ष श्री चन्द्रजी संगल का आकस्मिक निधन होने से ट्रस्ट को अपूरणीय क्षति हुई है। श्री संगलजी की दीर्घकालीन सेवाओं को ट्रस्ट हमेशा स्मरण रखेगा। उनके परिवार में श्री महेशचन्द संगल और राजीव संगल एटा से जो सहयोग प्राप्त हो रहा है। अतः उन सबके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जैनं जयतु शासनम्।

डॉ० शीतलचन्द जैन, मानद मंत्री
वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट

लेखक की ओर से

□ कस्तूरचंद्र "सुमन"

मनीषियों ने इतिहास के जो विभिन्न स्रोत बताये हैं, उनमें जैन अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है वे जैन सांस्कृतिक-सम्पदा के भण्डार हैं। इतिहास और जैन संस्कृति के कतिपय ऐसे अंग भी हैं, जिनका उल्लेख मात्र जैन-अभिलेखों में ही मिलता है। अतः जैन अभिलेख न केवल अभिलेख-स्रोत, विषय-वस्तु एवं प्रयोजनों का दिग्दर्शन कराते हैं, अपितु वे जैन अन्वय, जैन सामाजिक पद, संघ-व्यवस्था तथा विभिन्न राजवंशों का भी सप्रमाण परिचय देते हैं। काल-निर्णय करने में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। छोटे-से-छोटे। एक-दो पंक्तियों में उत्कीर्ण अभिलेख भी आज बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। 'जैन अभिलेख-परिशीलन" जैन अभिलेखों की विषय-वस्तु को जानने-समझने का लघु प्रयत्न है।

आदरणीय डॉ कोठियाजी ने इसे वीर-सेवा-मंदिर-ट्रस्ट से प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान की। इसके लिये मैं वीर-सेवा-मंदिर-ट्रस्ट और उसके अध्यक्ष आदरणीय डॉ. दरबारीलालजी कोठिया का उनके साहित्यिक सहयोग के हेतु आभारी हूँ। ट्रस्ट के मंत्री प्राचार्य डॉ शीतलचंद्रजी जयपुर का भी इस रचना के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उनका मैं धन्यवाद करता हूँ।

प्रमाद या अज्ञानवश हुई भूलों के लिये सुधी-जनों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

जैन विद्या संस्थान,
श्री महावीरजी,
दि॰ 27-10-1994
वीर-निर्वाण संवत् 2520

कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

अनुक्रमणिका

जैनअभिलेख-जैनधर्म और जैनसंस्कृति के दर्पण हैं। वे भारतीय संस्कृति को जानने/समझने के प्रामाणिक स्रोत हैं। भारत का प्राचीन इतिहास तभी से विधिवत प्रस्तुत किया जा सका है जबसे इनके अध्ययन/अनुशीलन की ओर ध्यान दिया गया है।

जैन-अभिलेख भारत के कोने-कोने से प्राप्त हुए हैं। ये पाषाण और धातु निर्मित ऐसी द्रव्यों पर उत्कीर्ण पाये गये हैं जिनमें परि-वर्तन और परिवर्द्धन के लिए कोई संभावना दिखाई नहीं देती है। सभवत: यही कारण है इनकी प्रामाणिकता आज तक असंदिग्ध बनी हुई है।

जैन-अभिलेख प्रकाशन

जैन-अभिलेखों का सर्वप्रथम प्रकाशन ईसवी 1889 में मैसूर-पुरातत्व विभाग की ओर से श्री लुइस राइस साहब ने कराया था। इसमें 'श्रवणवेलगोल' के 144 जैनलेख संग्रहीत हैं। उन्होंने इस संग्रह की प्रस्तावना में अभिलेखों के साहित्य-सौन्दर्य और ऐतिहासिक महत्त्व की ओर जैन मनीषियों का ध्यान आकर्षित किया था। प्रभावित होकर इस कार्य को राव बहादुर नरसिंहाचार ने आगे बढ़ाया। उनके द्वारा श्रवणवेलगोल के 500 जैनलेख संकलित किये गये। ये लेख कन्नडलिपि में प्रकाशित हुए। फलत: इस प्रकाशन का समुचित लाभ न उठाया जा सका। श्री पं. नाथूराम जी 'प्रेमी' के विशेषानुग्रह करने पर स्व० डॉ. हीरालाल जैन ने उक्त लेखों को संस्कृत-देवनागरी में तैयार किया। इन लेखों का प्रकाशन ईसवीं 1927 में माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला हीराबाग, पो. गिरगांव बम्बई के सौजन्य से ग्रन्थमाला के अट्ठाईसवें पुष्प के रूप में "जैन शिलालेख संग्रह प्रथमभाग" के नाम से हुआ।

इसके पश्चात् ईसवी 1908 में फ्रांसीसी विद्वान् गेरीनो की एक

रिपोर्ट से आठ सौ पचास जैन अभिलेखों का परिचय ज्ञात होने पर पं. विजयमूर्ति एम० ए० द्वारा उन लेखों का संकलन कराया गया। यह संकलन जैन शिलालेख संग्रह भाग 2-3 में माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ-माला बम्बई से ईसवी 1952 और 1957 में प्रकाशित हुआ। आगे यह कार्य करने के लिए डॉ विद्याधर जोहरपुरकर को आमंत्रित किया गया। उन्होंने घोर परिश्रम करके अनेक जैन अभिलेख संकलित किये। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से जैन शिलालेख-संग्रह भाग 4-5 के रूप में ईसवी 1961 और 1971 में इनका प्रकाशन हुआ है। इन पाँचों भागों में दिगम्बर जैन अभिलेखों की संख्या 2388 है।

जैन अभिलेखों के संकलन करने की रुचि बढ़ी ही है। एक 'जिन-मूर्ति-प्रशस्ति संग्रह' श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर म. प्र. से भी प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री कमलकुमार जैन द्वारा संकलित 321 प्रतिमालेख और 54 यंत्र लेखों का उल्लेख किया गया है। मेरे व्यक्तिगत संकलन में भी 595 जैन संस्कृत अभिलेख सकलित हैं। इनमें 353 तो केवल श्री दि० जैन क्षेत्र सिद्ध अहार टीकमगढ़ म. प्र के ही हैं। एक जैन प्रतिमालेख संग्रह बाबू कामताप्रसाद जैन ने भी प्रकाशित कराया था।

दिगम्बर जैन अभिलेखों के समान श्वेताम्बर जैन अभिलेखों के संकलन भी समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। श्री विजयमूर्ति एम. ए के संकलन जैन शिलालेख संग्रह भाग 2-3 में 175 श्वेताम्बर जैन लेख हैं। श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरि ने 374 श्वेताम्बर जैन अभिलेखों का संकलन किया था। ये लेख श्री दौलतसिंह लोढा द्वारा सम्पादित होकर श्री यतीन्द्र-साहित्य सदन धामणिया (मेवाड़) से प्रकाशित हुए हैं। स्व० बाबू पूर्णचन्द्र 'नाहर' द्वारा संकलित लेख-प्राचीन जैनलेख संग्रह के नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुए हैं। मुनि जयन्तविजय के "अर्बुद प्राचीन जैन लेख-संग्रह के पांच भाग, विजयधर्मसूरि के प्राचीन लेख-संग्रह और जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह, मुनि कान्तिसागर के जैनप्रतिमा लेखसंग्रह के दो भाग, उपाध्याय विनयसागर का प्रतिष्ठा लेख संग्रह और श्री अगरचन्द नाहटा का बीकानेर जैन लेख

संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। अभिलेख संकलन का इतना कार्य हो जाने पर भी अनेक लेख अप्रकाशित हैं।

: जैन अभिलेखों में संस्कृत-प्रयोग :

यह सत्य है कि साहित्यकार देश-काल की परिस्थितियों से अछूता नहीं रह सका है। काव्य-सृजन काल में जो भाषा प्रभावशील रही साहित्यकार ने उसी भाषा का अपनी रचना में प्रयोग किया। ईसवी प्रथम सदी तक जैन प्राकृत भाषा अपनाते रहे। यही कारण है आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य प्राकृत भाषा में मिला है। सवी प्रथम सदी के पश्चात् प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा को मिलना आरम्भ हुआ दूसरी सदी के आरम्भ में वह इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि उसकी लोकप्रियता से निर्ग्रन्थ साधु भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। जैन आचार्य उमास्वामी ने सर्वप्रथम अपनी रचनाओं में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया। जैन वाङमय में संस्कृत-भाषा में रचा गया तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र उनकी प्रथम रचना है। इसके पश्चात् जैन जगत में संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ता ही गया। अनेक जैन ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गये।

जैन अभिलेख भी संस्कृत भाषा के बढ़ते हुए प्रभाव से अछूते न रह सके। ईसवी तीसरी-चौथी सदी तक तो जैन अभिलेखों में प्राकृत का ही प्रयोग होता रहा किन्तु गुप्तकाल से संस्कृत भाषा का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। विदिशा (दुर्जनपुर) से प्राप्त जैन प्रतिमा लेख जिनमें महाराजा रामगुप्त का नामोल्लेख है संस्कृत भाषा में ही उत्कीर्ण मिले हैं। मेरे व्यक्तिगत संग्रह में जितने लेख हैं सभी संस्कृत में उत्कीर्ण मिले हैं। ईसवी चौथी सदी से जैन लेखों में संस्कृत प्रयोग ही दिखाई देता है।

: अभिलेख स्रोत :

जैन-अभिलेखों के दो ही स्रोत ज्ञात होते हैं-(1) पाषाण-खण्ड और पाषाण-निर्मित द्रव्य (2) धातु फलक और धातु निर्मित द्रव्य।

(अ) पाषाण और पाषाण निर्मित द्रव्य

जैन अभिलेखों में जो लेख जैसे छोटे-बड़े रहे उनके लिए वैसे ही पाषाण खण्ड प्रयोग में लाये गये। प्रशस्ति के रूप में पाये गये लेख पाषाण खण्डों पर ही अंकित मिले हैं। ऐसे पाषाण खण्ड मन्दिरों की भित्तियों में लगे मिलते हैं। मन्दिर ध्वस्त हो जाने पर इधर-उधर पड़े हुए भी मिले हैं। माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग 2 का लेख क्रमांक 228-दूबकुण्ड प्रशस्ति एक ऐसा ही लेख है। भीमपुर प्रशस्ति, ग्वालियर-प्रशस्ति आदि ऐसे अनेक लेख हैं।

वे लेख जिनका पाषाण-निर्मित द्रव्यों से सम्बन्ध रहा है, वे उन्हीं पाषाण निर्मित द्रव्यों पर अंकित मिले हैं। ऐसे अभिलेखों के निम्न स्रोत हैं—

(अ) पादपीठ : प्रतिमाएँ जिन आसनों पर विराजमान होती हैं, वे आसन पादपीठ कहलाती हैं। प्रतिमा लेख इन्हीं आसनों पर अंकित मिलते हैं।

(आ) प्रतिमा-पृष्ठ : अभिलेख-प्रतिमाओं के पृष्ठ भाग की आसनों पर भी अंकित कराये गये हैं। बजरंगगढ और सुहानियाँ आदि प्रतिमा लेखों का यही स्रोत बताया गया है।

(इ) चरण : तीर्थंकरों, आचार्यों और मुनियों के स्थापित चरण-चिन्ह। दूबकुण्ड, अहार आदि स्थलों में ऐसे ही लेख मिले हैं।

(ई) स्तम्भ : माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग प्रथम में ऐसे अनेक लेख संकलित हैं जो स्तम्भ पर अंकित मिले हैं।

(उ) गुफा : उदयगिरि (साँची) का लेख पार्श्वनाथ गुफा से ही प्राप्त हुआ था।

(ऊ) मानस्तम्भ : अहार में दो मानस्तम्भ हैं जिन पर लेख अंकित हैं।

(ऋ) मन्दिर-द्वार : खजुराहो का संवत् 1011 का लेख पार्श्वनाथ मन्दिर के प्रवेश द्वार पर ही अंकित है। बडोह का संवत् 1113 का लेख भी द्वार पर ही अंकित मिला है।

(ऌ) वेदिका : अहार से हमें एक वेदिका पर उत्कीर्ण लेख भी मिला है।

(ए) आयागपट्ट : ये चौकोर शिलाफलक होते हैं। ये मांगलिक चिन्ह अंकित कराकर तीर्थंकरों को चढ़ाये जाते थे। मथुरा से ऐसे 8 लेख मिले हैं जिनका लेख क्रमांक 5, 8, 9, 15, 17, 71, 73 और 81 से माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के जैन शिलालेख भाग 2 में संकलन किया गया है।

(ऐ) ध्वज स्तम्भ : मथुरा से ऐसे दो लेख मिले हैं। वे जैन शिलालेख संग्रह भाग 2 लेख क्रमांक 43-44 से बताये गये हैं।

(ओ) चौबीसी : एक ही पाषाण-फलक पर चौबीस अर्हन्त प्रतिमाओं के अंकन को चौबीसी कहते हैं।

(औ) रत्नत्रय प्रतिमाएं : शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ इन तीनों तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ एक साथ स्थापित रहना। इनमें पृथक-पृथक लेख मिलते हैं। कहीं कहीं केवल शान्तिनाथ पर ही लेख रहता है।

(अं) बावन जिनालय : एक स्तम्भ पर चारों ओर तेरह-तेरह प्रतिमाएँ होती हैं। सोनागिर में ऐसा एक संवत् 1236 का स्तम्भ हैं।

(अः) सहस्त्रकूट चैत्यालय : एक हजार प्रतिमाएँ अंकित होती हैं। माणिकचन्द्र दिगम्बर ने जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग प्रथम में श्रवणबेलगोल से प्राप्त लेख हैं। इनमें

चौंतीस लेख–लेखक्रमांक 38, 40, 42, 44, 46, 45, 57, 58, 68, 82, 84, 88, 99, 102, 103, 105, 108, 109, 110, 136, 137, 470, 478, 499 स्तम्भों पर, दो लेख, 39, 41 मण्डपों पर, चार लेख 62, 67, 104, 187 पादपीठों पर, चार लेख–63-66 सिंहपीठों पर, दो लेख मन्दिर के भित्ति पर, दो लेख–248, 249 चरणों पर, दो लेख प्रवेशद्वारों पर, तीन लेख–435, 436, 449 प्रभावलियों के पृष्ठपर, तीन लेख–437, 438, 440 प्रतिमाओं के पृष्ठभागों पर, एक लेख–479 समाधिमण्डप पर, सोलह लेख-45 59, 85 86, 90, 114, 115, 124, 143, 492, 493, 494, 495, 496, 500 शिलाखण्डों पर और अठारह लेख-71-74, 111-113, 116, 117, 119-123 142 189, 475, 477 चट्टानों पर उत्कीर्ण बताये गये हैं। इस प्रकार इस विवरण से दक्षिण के दिगम्बर जैन अभिलेखों के स्रोतों का सहज ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(ब) धातु फलक और धातु-निर्मित द्रव्य

धातु निर्मित द्रव्य जिनमें अभिलेख प्राप्त हुए हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

(अ) ताम्र-पट्ट : श्रवणवेलगोल से प्राप्त एक ऐसा अभिलेख जैन शिलालेख संग्रह भाग प्रथम में लेख क्रमांक 140 से प्रकाशित हुआ है। एक ताम्रपट्ट–जो अहार में प्राप्त हुआ था, डॉ. कपूरचन्द्र जैन टीकमगढ के पास संग्रहीत है।

(ब) पीतल या गिलटधातु से निर्मित प्रतिमाएँ : अहार भोंयरे में ऐसी 60 प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इनमें रत्नत्रय प्रतिमा ले क्र. 159 सर्वाधिक प्राचीन है। इसका समय लेख में संवत् 1119 ईसवी 1062 बताया गया है।

(स) मेरू : पीतल धातु से निर्मित। यह ईसवी 1627 का है। अहार भोंयरे में विराजमान हैं।

(द) यंत्र लेख : ये ताम्र और पीतल दोनों धातुओं मे निर्मित मिले हैं। अहार के भोंयरे में एमे अनेक यंत्र हैं। इन यंत्रों में सर्वाधिक प्राचीन यंत्र अष्टांग सम्यग्दर्शन-यंत्र संवत् 1502 ईसवी 1445 का है। इसे ले. क्र. 217 मे देखा जा सकता है।

(इ) सिद्ध-प्रतिमाएँ : अहार-भोंयरे में सलेख तीन प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

वर्गीकरण और विषय वस्तु

अभिलेखों की विषय-वस्तु के आधार से अभिलेखों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-(1) सांस्कृतिक अभिलेख (2) राजनैतिक अभिलेख। इनमें सांस्कृतिक लेख कुछ ही पंक्तियों में तीर्थंकर प्रतिमाओं और चरणों की आसनों पर, मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर, वेदिकाओं और स्तम्भों आदि पर अंकित मिले हैं। ये लेख जैनधर्म के श्रद्धालु पुरुष या महिलाओं द्वारा लिखाये गये हैं। कुछ लेखों में काव्य का सौन्दर्य भी गर्भित हैं। ऐसे लेखों में व्यक्तियों की प्रशंसाएँ की गयी हैं। इन लेखों में जैन अन्वयों और जैन साधुओं के गण-गच्छ-अन्वय आदि का उल्लेख भी किया गया है। इससे जैन समाज का इतिहास जानने समझने में सहायता मिलती है। मुनि, आर्यिका, भट्टारक, पण्डित आदि का तथा प्रतिष्ठाकाल का उल्लेख होने से विभिन्न विषयों के काल निर्णय में ये प्रामाणिक स्रोत सिद्ध होते हैं।

प्रतिमा लेखों में जिन तीर्थंकरों का नामोल्लेख हुआ है उनमें चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त के नाम उल्लेखनीय हैं। ये नाम दुर्जनपुर (विदिशा) से प्राप्त रामगुप्तकालीन प्रतिमा लेखों में द्रष्टव्य है। खजुराहो से प्राप्त संवत् 1142 के प्रतिमालेख में आदिनाथ का, खजुराहो के 1215 संवत् के लेखों में सम्भवनाथ और अभिनन्दननाथ के नाम, खजुराहो से ही प्राप्त संवत् 1085 के लेख में, और मऊ (छतरपुर) तथा अहार से प्राप्त क्रमश. संवत् 1203 और 1237 के लेखों में शान्तिनाथ का, अहार के संवत् 1209 के एक लेख में अरहनाथ का, मऊ के संवत् 1199 के लेख में मुनिसुव्रतनाथ का और

नेमिनाथ का, छतरपुर के संवत् 1205 के लेख में अरिष्टनेमि का, ईसवी 326 के उदयगिरी लेख में पार्श्वनाथ का और अहार, के सवत् 1206, 1207, 1216, 1237 के प्रतिमा लेखों में वर्द्धमान, वीरवर्द्धमान, वीरनाथ का उनकी प्रतिमाएँ निर्माण कराकर उनकी प्रतिष्ठा कराने, उनके मन्दिर बनवाने के रूप नामोल्लेख किया गया है।

इन लेखों की भाषा-शैली भाषाशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्व की है। प्राचीन लेखों में सरेफ वर्ण द्वित्व हुए हैं। का व्यवहार जिन लेखों में नहीं हुआ है वहां श के स्थान में स का प्रयोग हुआ है। ख के लिए ष का प्रयोग भी दिखाई देता है। अनुनासिकों के स्थान में अनुस्बार मिलता है ।

(2) राजनैतिक अभिलेख

ये लेख सांस्कृतिक अभिलेखों के समान छोटे नहीं होते। ये सामान्य प्रस्तर-खण्डों पर प्रशस्तियों के रूप में उत्कीर्ण मिले हैं। इनमें शासकीय अनुदान का उल्लेख रहता है। राजाओं की वंश-परम्परा, उनकी उल्लेखनीय जीवन-घटनाएँ, प्रमुख शासक का जैन धर्म के लिए किया गया योगदान दर्शाया गया है। इनका स्वरूप शासन-पत्रों के समान होता है। ये राजा या उसके किसी अधिकारी द्वारा लिखाये जाते हैं। राजाओं से सम्बन्धित रहने के कारण ऐसे लेखों को राजनैतिक लेख कहा गया है। उत्तर भारत में ऐसे लेख मन्दिरों की भित्तियों में स्वचित या मन्दिर ध्वस्त हो जाने पर ध्वस्त मन्दिरों के समीप प्राप्त हुए हैं। दूबकुण्ड और भीमपुर जैन-प्रशस्ति लेख ऐसे ही उल्लेखनीय लेख हैं।

स्व, डॉ. गुलाबचन्द चौधरी ने माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग 2–3 का अध्ययन करके उनकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि *लोग अपने कल्याण के लिए, माता-पिता, भाई-बहिन आदि के कल्याण के लिए, गुरु के स्मृत्यर्थ, राजा, महामण्डलेश्वर आदि के सम्मानार्थ मन्दिर या मूर्ति का निर्माण कराते थे। उनकी मरम्मत,*

पूजा, ऋषियों के आहारार्थ, पुजारी की आजीविका के लिए, नये कार्यों के लिए तथा शास्त्र लिखने वालों के भोजन के लिए दान देते थे। दातव्य वस्तुओं में ग्राम, भूमि, खेत, तालाब, कूप, दुकान, भवन, कोल्हू, हाथ के तेल की चक्की, चावल, सुपारी का बगीचा, साधारण बगीचे, चुंगो से प्राप्त आमदनी, निष्क, पण, होन्नु, घा एव मुक्त श्रम आदि हैं। लेख क्रमांक 98 में एक ब्राह्मण का कुमारिकाओं की भेंट का उल्लेख है जो देवदासी प्रथा की याद दिलाता है। ग्राम या भूमि के दान में प्राय: यह ध्यान रखा जाता था कि वे दान सब करों से मुक्त करा दिये जायें (226, 404) आदि। उत्सवों पर ही दान देने की प्रथा थो। बहुत से लेखों से ज्ञात होता है कि दानादि द्रव्य चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उत्तरायण संक्रान्ति, या पूर्णिमा आदि के दिन दिये जाते थे (102, 107, 301, 609 आदि)। मूर्तियों के निर्माण में हम देखते हैं कि लोग प्राय: जिन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ बनवाते थे उनमें विशेषत: आदिनाथ, शान्तिनाथ, चंद्रप्रभ, कुन्थुनाथ पाश्वनाथ एवं वर्धमान की मूर्तियाँ होती थीं। दक्षिण भारत में बाहुबली की मूर्ति भी हम देखते है। भक्त या शिष्यगण अपने आचार्यो की मूर्तियां या पादुकाएं बनवाते थे। यक्ष-यक्षिणियों की पूजा भी प्रचलित थी। लेखों में अम्बिका देवी (346) और ज्वाल-मालिनी (758) को मूर्तियों का भ। उल्लेख मिलता है। प्राय: प्रतिमाएँ पाषाण और धातु की बनती थीं, पर एक लेख में (197) पंच धातु की प्रतिमा क़ा उल्लेख है। मन्दिर प्राय: पाषाण या ईंट के बनते थे, पर कुछ लेखों में (277, 204) में लकड़ी के मन्दिरों का भी उल्लेख है। पूजा के अनेक प्रकार होते थे (338)।

धर्मप्राण महिलावर्ग एवं पुरुषवर्ग सारे जीवन को धर्म की आराधना में व्यतीत कर अन्तिम क्षणों में समाधिमरण पूर्वक देहोत्सर्ग करता था। चौदहवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण प्रान्त में जैन महिलावर्ग के बीच सती प्रथा का भी प्रवेश हो गया था (559, 574, 605) राजघराने की महिलाएँ अपने पति के शासन मे हाथ बटाती थीं।

जमीन प्राय: नापकर दान में दी जाती थी। लेखों में विविध

प्रकार की नापों का उल्लेख है जैसे निवर्तन (लेख क्रमांक 101) मेरुण्ड दण्ड (181) मत्तर (210) कम्म (241) कुण्डिदेश दण्ड (334) हाथ (320) तथा स्तम्भ (334) आदि। चावल आदि का नाप के लिए मत्त (181) तथा तेल की नाप के लिए करघटिका (228) का भी उल्लेख मिलता है।

[illegible] प्रकार के आयकरों के नाम भी लेखों से ज्ञात होते हैं। इन लेखों [illegible] त्रानदण्ड विरै (167) सिद्धाय कर (312) नमस्य की है। प्राचीन [illegible] रे (673) तत्कालीन अनेक सिक्कों के नाम भी लेखों लेखों में नई [illegible] हैं। जैसे गुप्तकालीन कर्षापण (94) निष्क (464) सुवर्ण के लिए [illegible] 197) लोक्कि गद्याण (252) गद्याण (197, 672) हो नु अनुस्व [illegible], 673) विशोपक (228) आदि।

गांव के अधिकारी के रूप मे सेनवोव-पटवारी (210, 226, 251) महामहत्तु (710) हेग्गडे या पेग्गडे (208) के नाम पाते हैं। पटवारी लोग अच्छे पढ़े-लिखे होते थे। एक लेख में (251) एक पटवारी को लेख रचने वाला लिखा है।

प्रतिष्ठादि धार्मिक कार्यों के प्रयोजन

उत्तर भारत के संस्कृत जैनलेखों की यह विशेषता है कि उनमे लेख के अन्त में प्रतिष्ठादि धार्मिक कार्य सम्पन्न कराने के प्रयोजन भी दर्शाये गये थे। इनमें इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग सम्बन्धी प्रयोजनों को स्थान नहीं मिला है। इहलौकिक प्रयोजनों का अभाव है। सर्वत्र प्रयोजनों में आत्म-कल्याण की भावना दिखाई देती है। अभिलेखों में जिन प्रयोजनों का उल्लेख हुआ है वे निम्न प्रकार हैं—

[क] पुण्य-संचय

अहार से प्राप्त सम्वत् 1209 के एक लेख में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का प्रयोजन—"पुण्याय कारापितेयम्" कहकर पुण्य संचय बताया गया है। तीर्थंकर प्रतिमाओं के निर्माण का भी यही प्रयोजन दिखाई देता

है (अहार संवत् 1237 का लेख–वीरवर्द्धमानस्य बिम्बं तत्पुण्य-वृद्धये)। तीर्थंकर प्रतिमाओं के चरण-कमलों में नित्य प्रणाम करने में भी यही प्रयोजन दर्शाया गया है (जैसे पपौरा प्रतिमालेख संवत् 1202-प्रणमंति नित्यं जिनेशचरणार्विन्दं पुण्य प्रतिष्ठाम्)। अहार में ऐसे अनेक प्रतिमालेख प्राप्त हैं।

[ख] दुरित-पाप-शान्ति

अर्हन्त प्रतिमाओं के निर्माण में पापों की शान्ति एक प्रयोजन भी रहा है। अहार के संवत् 1237 के एक लेख में शान्तिनाथ प्रतिमा को 'दुरितोघ शर्मैकहेतु' कहा गया है।

(ग) कर्म-क्षय

अर्हन्त प्रतिमाओं के निर्माण कराने और उनकी नित्य वन्दना करने में एक प्रयोजन कर्म समूह का क्षय करना भी ज्ञात होता है। उत्तर-भारत के उदयगिरि (सांची) गुहालेख में पार्श्वनाथ प्रतिमा के निर्माण से उत्पन्न पुण्य को कर्म-समूह के क्षय हेतु समर्पित करना बताया गया है। इसी प्रकार अहार से प्राप्त सम्वत् 1214 और 1216 के प्रतिमालेखों में क्रमशः "नित्य प्रणमंति कर्मक्षयाय" कर्मक्षयार्थ प्रतिमा कारापिताः' आदि वाक्यांशों का उल्लेख किया गया है।

(घ) विघ्न-विनाश

उपलब्धियों के होने में बाधक तत्त्वों का निवारण करना भी अर्हन्तों की नित्य वन्दना में एक प्रयोजन बताया गया है। अहार के सवत् 1237 के एक लेख में विघ्न-विनाशनार्थ अर्हन्त की नित्य वन्दना किये जाने का उल्लेख मिलता है।

(ङ) मोक्षाभिलाषा

अहार से प्राप्त सम्वत् 1237 के एक लेख में शान्तिानथ प्रतिमा

को–शाश्वत् सुखकारी मुक्त श्री के मुखारविन्द का दर्शन कराने वाली बताया गया है-श्री शान्तिचैत्यमिति नित्य सुखप्रदानात् मुक्तिश्रियो वदनवीक्षण लोलुपाभ्याम्"। अहार-प्रतिमालेखों के अन्त में मंगलं-महाश्री, श्रेयस्, आदि पदों के अंकण से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। अहार के सम्वत् 1200 और 1207 में लेख के अन्त में क्रमशः श्रेयसे प्रणमंति, प्रणमति श्रेयसे पद अंकित हैं। इसी प्रकार दूबकुण्ड प्रशस्ति के अन्त में मंगलं महाश्री पद दिये गये हैं।

अभिलेखों के मूल प्रयोजन

सामान्यतः अभिलेख प्रमाण-पत्र हैं। इनका प्रयोजन भी संभवतः वस्तु-स्थिति को प्रमाणित करना है। अभिलेखों की विषय वस्तु समान नही है। विषय-वस्तु की विविधता से लेखों के प्रयोजन भी विविध ज्ञात होते हैं। जो लेख अब तक प्राप्त हुए हैं उन्हें निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है।

(क) दान एवं जीर्णोद्धार से सम्बन्धित लेख

जैनमन्दिरों का समय-समय पर आवश्यकतानुसार जीर्णोद्धार कराया जा सके, प्रतिमाओं का विधिवत् पूजा होती रहे, मन्दिरों में रात्रि में दीप जलाया जा सके इत्यादि भावना से विविध प्रकार के दान मन्दिरों का दिये जाने के उत्तर भारत में लेख मिले हैं। खजुराहो से चन्देलराजा धंगकालीन ईसवी 954 का एक लेख पार्श्वनाथ मन्दिर के प्रवेशद्वार पर ऐसा अंकित मिला है जिसमें भव्य श्रावक पाहिल द्वारा मन्दिर को सात वाटिकाओं के दिये जाने का उल्लेख है। सातों वाटिकाओं के नाम भी दर्शाये गये हैं तथा दी गयी वाटिकाओं की सुरक्षार्थ नम्र निवेदन भी किया गया है।

इसी प्रकार दूबकुण्ड प्रशस्ति में कच्छपघात वंश के राजा विक्रमसिंह द्वारा जैन मन्दिर के लिए महाचक्र ग्राम में चार गोणी गेहूँ बोने योग्य खेत, पूर्वदिशा में स्थित वापी सहित वाटिका, तथा दीप जलाने और मुनियों को शरीर मे लगाने के लिए दो करघटिका

तेल दान में दिये जाने तथा एक विशोपक कर लगाये जाने का उल्लेख मिलता है।

जैनशिलालेख संग्रह भाग प्रथम लेख क्रमांक 88, 89, 92 में गोमटेश की पूजा में पुष्पमालाएँ चढ़ाने के लिए भूमि दिये जाने का और लेख क्रमांक 94, 95, 97, 330 में परिमाण सहित दुग्धदान में दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में ऐसे लेखों का प्रयोजन दान में दी गयी वस्तु पर दाता के स्वामित्व की समाप्ति तथा मन्दिर का स्वामित्व दर्शाना है। दान में दी गयी वस्तु में परिवर्तन न किया जा सके इसके लिए यदि भूमि है तो उसकी स्थिति, वाटिकाएँ हैं तो उनके नाम एवं मुख्य विवरण लेखों में दिये गये हैं। भूमि में कितना अनाज बोया जा सकता है उसका प्रमाण भी दे दिया गया है। तेल का दुरुपयोग न हो सके उसके उपयोग के स्थल, तथा कम न किया जा सके इसके लिए प्रमाण दर्शा दिया गया है। इस प्रकार ऐसे लेखों का प्रयोजन लिखित दानपत्र देना ज्ञात होता है।

(ख) सल्लेखना सम्बन्धी लेख

ये लेख दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोल से प्राप्त हुए हैं। इनकी संख्या लगभग 100 है। इनमें साठ लेख सातवीं-आठवीं सदी के शेष-लेख परवर्ती काल के हैं। इन लेखों में न केवल मुनियों की समाधि के उल्लेख हैं, व्रतोपवासपूर्वक गृहस्थों द्वारा समाधिमरण करने के उल्लेख भी मिले हैं। ऐसे लेखों का प्रयोजन समाधिमरण का महत्व दर्शाकर समाधिमरण करने की प्रेरणा देना ज्ञात होता हैं।

(ग) तीर्थयात्रा लेख

ये लेख भी दक्षिण-भारत में श्रवणबेलगोल से ही प्राप्त हुए हैं। वे लगभग 160 लेख हैं। इनमें 107 लेखों में दक्षिण भारत के यात्रियों के और शेष उत्तर भारत के तीर्थयात्रियों के बताये गये हैं।

लेख क्रमांक 1/117 मे तीर्थयात्रा को मुक्तिमार्ग प्राप्ति का साधन बताया गया है। अतः प्रस्तुत लेख के परिप्रेक्ष्य में मुक्तिमार्ग की प्रेरणा देना ऐसे लेखों का प्रयोजन ज्ञात होता है।

(घ) प्रतिष्ठा-लेख

मूर्तियों, मन्दिरों, चरण-पादुकाओं, वेदिकाओं आदि की प्रतिष्ठाओं से सम्बन्धित लेख देश में सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमें प्रतिमाओं और मन्दिरों के निर्माण तथा उनकी प्रतिष्ठा के पश्चात् प्रतिष्ठा कराने वाले श्रावकों द्वारा नित्य प्रणाम किये जाने के उल्लेख रहते हैं। ऐसे लेखों का मूल प्रयोजन सम्भवतः मन्दिरों और तीर्थंकर-प्रतिमाओं के निर्माण, उनकी प्रतिमाओं और प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को ही नित्य प्रणाम करने की प्रेरणा देना है। श्रावक के छह कर्त्तव्यों में देवपूजा-प्रथम कर्त्तव्य का निर्वाह कराना भी एक प्रयोजन हो सकता है। पूर्वजों के नाम देखकर कुटुम्बीजन भी इस कर्तव्य का निर्वाह करते रहें यह प्रयोजन भी ऐसे लेखों में समाहित ज्ञात होता है।

(ङ) जय-पराजय सूचक लेख

ऐसे लेखों में जेता के नाम सहित उसकी विजय का और पराजित राजा के नामोल्लेख सहित उसकी पराजय का उल्लेख होता है। मदनपुर से संवत् 1239 का एक लेख ऐसा ही मिला है। इसमें चौहान पृथ्वीराज द्वारा जेजाकभुक्ति देश के राजा चन्देल परमर्दिदेव को पराजित किये जाने का उल्लेख है। ऐसे लेखों का प्रयोजन विजयसूचक अमिट आलेख रखना ज्ञात होता है।

लेख-पद्धति

अभिलेखों के लेखक उत्तर भारत और दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न होने के कारण अभिलेखों की लेखन-शैली में भिन्नता दिखाई

देती है। अतः दोनों शैलियों पर यहां हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(अ) उत्तर-भारत की लेख पद्धति

विषय वस्तु और विस्तार की दृष्टि से उत्तर भारत के लेख तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें प्रथम भाग में हम प्रशस्तियों की गणना करेंगे। दूसरे भाग में वे लेख होंगे जिनका विस्तार प्रशस्तियों से छोटा है किन्तु जो मात्र एक-दो पक्तियों में नहीं हैं। तीसरे भाग मे एक-दो पंक्ति वाले लेख होंगे।

प्रशस्तियों की लेख-पद्धति में सामान्यतः समानता है। वे छह भागों में विभाजित हैं। प्रत्येक भाग अथ अथवा आसीत् आदि शब्दों से आरम्भ हुआ है। प्रत्येक भाग की विषय-वस्तु पृथक्-पृथक् है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है दूबकुण्ड प्रशस्ति। इसमें कुल इकसठ पंक्तियां हैं। इनमें 1-10 में प्रथम भाग, 11-32 में द्वितीय भाग, 32-39 में तृतीय भाग, 39-54 में चतुर्थ भाग, 54-60 में पांचवा भाग और 60-61 पंक्तियों में छठा भाग है।

प्रथम भाग मंगलाचरण का है। इसमें मंगल स्वरूप आरम्भ में वीतरागता को नमन किया गया है। इसके पश्चात् देव, गुरु और शास्त्र की स्तुति की गयी है। अर्हन्त देव माने गये हैं। चौबीस अर्हन्तों में ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, चन्द्रप्रभ और सन्मति को स्तुति की गयी है। दूसरे भाग में वर्तमान शासक की वंश परम्परा और उनकी सामरिक विजय आदि का उल्लेख है। तीसरे भाग में मंदिर संस्थापक का कौटुम्बिक परिचय है। चौथे भाग में मन्दिर संस्थापना के प्रेरक मुनि की गुरु-परम्परा एवं उनके गण-गच्छादि का उल्लेख है। पांचव भाग में मन्दिर के लिये किये गये राजकीय सहयोग को दर्शाया गया है। इसमें राजा द्वारा दी गयी भूमि, वापी सहित वाटिका, दो करघटिका तैल और विशोपक कर लगाये जाने का उल्लेख है। इसी भाग में आगामी राजाओं से दान देते रहने की प्रार्थना की गयी है। छठे भाग में प्रशस्ति लेखन कार्य करने वाले

और उत्कीर्णकर्त्ता के नाम तथा कार्य सम्पन्न होने का समय दर्शाया गया है। किञ्चित हेर-फेर के साथ सामान्यतः सभी प्रशस्तियों में यही पद्धति अपनायी गयी है।

वे अभिलेख जो विस्तार में न बहुत छोटे हैं और न प्रशस्तियों के समान बहुत बड़े, ऐसे अभिलेखों के प्रथम अंश में मंगल स्वरूप परमेष्ठियों एवं वीतरागता को नमन किया गया है। द्वितीय अंश में यदि कोई दाता है तो उसके गुणों का, यदि मन्दिर-निर्माता है तो उसके अन्वय, ग्राम एवं वंश परम्परा का, यदि कोई मुनि है तो उसके गुणों और कार्यों का तथा उसकी गुर्वावली का उल्लेख रहता है। तीसरे अंश में मन्दिर या प्रतिमा निर्माण का, यदि मन्दिरों को दान दिया गया है तो दत्तवस्तु का तथा उसकी रक्षार्थ दाता द्वारा की गयी प्रार्थना का उल्लेख रहता है। चौथे अंश में प्रतिष्ठाचार्यों एवं उनके अन्वयादि का और पांचवें अंश में जिसके शासनकाल में कार्य सम्पन्न होता है उस राजा का तथा कार्यकाल का नामाल्लेख रहता है। छठे अंश में शिल्पकार का नाम मिलता है। ऐसे लेखों में-उदाहरण स्वरूप अहार का सम्वत् 1237 शान्तिनाथ-प्रतिमालेख, उदयगिरि (सांची) का गुहालेख, बहोरीवन्द (जबलपुर) का शान्तिनाथ प्रतिमालेख, खजुराहो का सवत् 1011 का लेख और संवत् 1223 के बबागज मन्दिर लेख उल्लेखनीय हैं। इनमें सामान्य रूप से समान लेख पद्धति दिखाई देती है। कुछ लेखों में लेख का समय दूसरे अश में अंकित मिलता है।

वे लेख जो मात्र एक दो पंक्तियों में मिले हैं, उनकी लेख-पद्धति में विभिन्नता है। ऐसे लेखों का अश विभाजन पूर्णविराम सूचक दो खड़ी रेखाएँ देकर किया गया है। जिनमें मगलसूचकाओं आदि शब्द हैं उन लेखों में वे शब्द ही लेखों के प्रथम अंश हैं। जिन लेखों में मगलसूचक शब्द नही होते उनमें प्रतिष्ठा समय अकित मिलता है। यह अश कुछ लेखों में अन्त में अंकित मिला है। शासकों के यदि नाम हैं तो वे भी इसी अंश में मिलते हैं। द्वितीय अश में

प्रतिमा या मन्दिर-निर्माता की वंश परम्परा, अन्वय और उसके निवास स्थल अंकित होते हैं। कुछ लेखों में संघ, गण, गच्छ एवं गुरु-शिष्यादि के नाम इसी अश में उत्कीर्ण किये गये हैं। तीसरे अंश में प्रतिमा का नाम और उसे नित्य प्रणाम किये जाने तथा प्रतिष्ठा कराने वाले श्रावकों की कामनाएँ अंकित मिलती हैं। चौथे अंश में प्रतिमा निर्माता शिल्पी का नाम होता है। सभी अश खजुराहो के सम्वत् 1215 के एक लेख में उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं। दो या तीन अंश अनेक अभिलेखों में हैं। जिनमे दो अश हैं उनमें प्रतिष्ठा तिथि तथा प्रतिमा और उसके निर्माताओं के नाम होते हैं (खजुराहो सवत् 1085 का लेख) अन्वयादि से सम्बन्धित लेखों के लिए अहार और पपौरा (संवत् 1202) के लेख उल्लेखनीय हैं। जिनमें प्रतिमा निर्माता की वंश परम्परा जिस तीर्थंकर की प्रतिमा का निर्माण कराया गया है उस प्रतिमा का नाम तथा प्रतिष्ठाकाल ये तीन अंश हैं, ऐसे लेखों के लिए द्रष्टव्य है धुबेला सग्रहालय में संग्रहालय क्रमाक 42 और 24 से सग्रहीत मऊ प्रतिमाओ की आसनों पर अकित लेख।

ये लेख गद्य और पद्य दोनों विधाओं में अकित मिले हैं। मऊ से प्राप्त लेखों में केवल समय गद्य में बताया गया है। शेष पूर्ण लेख-पद्यमय है।

(ब) दक्षिण भारत की जैनलेख पद्धति

जैनशिलालेख संग्रह भाग एक के अभिलेखों का अध्ययन करने से इनकी लेख-पद्धति उत्तर भारत के लेखों से भिन्न ज्ञात होती है। इन लेखों में उत्तर भारत के समान देव-शास्त्र-गुरु की स्तुति मंगल स्वरूप आदि में नही की गयी है। सिद्धों या वीतरागता को नमन किये जाने के उल्लेख भी दिखाई नहीं दिये हैं। सामान्यतः अभिलेखों के आदि में मंगल-स्वरूप निम्न श्लोक व्यवहृत हुआ है–

श्री मत्परम गम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

सामान्यतः अभिलेखों के अन्त या मध्य में जहां जैनमन्दिरों के लिए यदि किसी प्रकार का दान दिया गया है तो दान में दी गयी वस्तु की रक्षार्थ एक दो श्लोक अंकित कराये जाने की परम्परा रही है। सामान्यतः निम्न श्लोक प्रयोग मे आते रहे हैं।

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेद्वसुन्धराम्।
षष्ठि वर्ष सहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥
बहुभिर्व्वसुधा दत्ता रागभिसगरादिभिः।
यानि यानि यदा धर्म्मं तानि तानि तथा फलम्॥

विस्तृत लेखों में शासकों की वंशावलियाँ और मुनियों की गुर्वावलियाँ अकित मिली हैं। ये लेखों के मध्य में होती हैं। उत्तर के लेखों में आचार्य परम्परा का अकन नहीं किया गया है। छोटे लेखों में उत्तर भारत की लेख-पद्धति दिखाई देती है। आरम्भ में सिद्धम् स्वस्ति श्री आदि मंगलसूचक शब्द लिखने की प्रथा रही है। समय का उल्लेख कतिपय अभिलेखों के अन्त में है और कतिपय लेखों के आदि में। संघ, गण, गच्छादि के उल्लेख सामान्यतः अन्त में हुए हैं।

जैन-अन्वय

भारतीय संस्कृत जैन अभिलेखों में जैन अन्वयों के सन्दर्भ उत्तर भारत के संस्कृत जैन लेख-विशेषतः अहार, पपौरा, मऊ, छतरपुर, महोबा, उर्दमऊ, जतारा, कुड़ीला, बहोरीवन्द आदि स्थलों से प्राप्त प्रतिमालेख उल्लेखनीय हैं। दूबकुण्ड और भीमपुर की प्रशस्तियाँ भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं।

इन अभिलेखों में जैन जाति के लिए अन्वय, वंश और जाति शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें वंश शब्द अहार के संवत् 1210 और 1237 (ले. क्र. 1 और 287) के प्रतिमालेखों में मिला है। अन्वय का बारहवीं सदी तक के लेखों में बहुलता से प्रयोग पाया गया है। जाति शब्द का व्यवहार अपवाद स्वरूप हुआ है अवश्य किन्तु परवर्ती काल में।

दूसरी सदी के आचार्य समन्तभद्र ने अपनी रचना रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक 35 में आठ प्रकार के मदों का उल्लेख किया है। उनमें एक जाति नाम का मद भी है। अभिलेखों में जाति शब्द के अभाव का कारण संभवत: तत्कालीन जैन समाज को जातीय अहंकार से बचाना रहा है।

जैन जातियों के उद्भव में उनकी चारित्रिक विशुद्धि निमित्त रही ज्ञात होती है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण (39/85) में- मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिधीयते-माता की अन्वय शुद्धि को जाति संज्ञा दी है। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि प्रत्येक अन्वय की चारित्रिक शुद्धि का अपना वैशिष्ट्य रहा है। यही कारण है स्थान विशेष से विभिन्न अन्वय जन्मते रहे और जाति-भेद बढ़ता चला गया। अभिलेखों में जिन अन्वयों के नाम मिलते हैं वे निम्न प्रकार हैं-

(1) गोलापूर्वान्वय

इस अन्वय के सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमालेख छतरपुर से मिले हैं। श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर से प्रकाशित 'जिनमूर्ति-प्रशस्ति लेख' पुस्तक के पृष्ठ 9 में उर्दमऊ से लायी गयी और डेरा पहाड़ी जैन मन्दिर छतरपुर में विराजमान शान्तिनाथ और सुपार्श्वनाथ दो ऐसी प्रतिमाओं का नामोल्लेख किया गया है जिनके पादपीठ पर विक्रम संवत् 1149 ईसवी 1092 प्रतिष्ठाकाल और इस अन्वय का नाम अंकित बताया गया है। अहिंसावाणी : वर्ष 13 अंक 8-9 में श्री नीरज जैन सतना ने भी अपने एक लेख में उर्दमऊ से ही प्राप्त संवत् 1171 ईसवी 1114 की तीर्थंकर पद्मप्रभ प्रतिमा की आसन पर इस अन्वय का नाम अंकित बताया है।

इन लेखों के पश्चात् बहोरीबन्द से प्राप्त शान्तिनाथ प्रतिमालेख उल्लेखनीय है। इस लेख के संवत् सूचक प्रथम दो अंकों में 10 पढा गया है। अन्तिम दो अंको का अभिलेख अंश भग्न है। लेख में गयाकर्णदेव राजा का नामोल्लेख किया गया है। इस राजा को

चेदि संवत् 902 ईसवी 1151 के त्रिपुरी से प्राप्त एक लेख में राजा यशःकर्ण का पुत्र बताया गया है। यह अंश है-

आत्रेय गोत्रेऽखिल राजचन्द्र जिगीषु राजोजति कर्ण्णदेवः।
तस्माद्यश. कर्ण्णनरेश्व याऽभूत्तस्यात्मजोऽयं गयकर्णदेवः ॥

इस्क्रिप्शन्स ऑफ दि कलचुरि चेदि एरा : जि. 4 भा 1, पृ 306 इसी शिलालेख में यह भी कहा गया है कि राजा गयाकर्ण अपने युवराज पुत्र जयसिंह के साथ राज्य कर रहे थे-

आकल्पं पृथिवीं शास्तु श्री गयाकर्ण पार्थिवः।
संगतो नरसिंहेन युवराजेन सनुना ॥4॥

इस उल्लेख के आलोक में बहोरीवन्द लेख का सम्वत् न कलचुरि सम्वत् ज्ञात होता है और न विक्रम सम्वत् ही , इस लेख में शक् सम्वत का प्रयोग हुआ ज्ञात होता है। अतः गयाकर्णदेव का शासनकाल ईसवी 1151 के कुछ समय पूर्व से आरम्भ हुआ ज्ञात होता है। ईसवी 1151 उसके शासन का संभवत अन्तिम समय था। यशाकर्णदेव ईसवी 1122 में शासन कर रहे थे। अतः इसे इनके पश्चात् ही कभी संभवतः ईसवी 1124-25 में शासन की बागडोर प्राप्त हुई। इस प्रकार बहोरीवन्द का समय शक सम्वत् 1047 का या उसके पांच-दस वर्ष बाद का संभावित है। यहाँ शान्तिनाथ प्रतिमा का निर्माण गोलापूर्व श्रावक ने कराया था। गोलापूर्वान्वय का एक लेख जतारा (जैन सन्देश 10/1/63) और दो लेख मऊ (धुबेला संग्रहालय क्र 7 एव 42) से ईसवी 1142 के प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार ईसवी 1145 का एक लेख अहार से (ले. क्र 250) एक लेख छतरपुर में चौधरी मंदिर की नेमिनाथ प्रतिमा से और दो लेख पपौरा से प्राप्त हुए हैं। ईसवी 1146 के तीन लेख-क्र. 253, 260, 346) अहार से, एक लेख मऊ (धुवेला सग्र क्र 24) से, और एक लेख नावर्द-नवागढ़ (ललितपुर) से मिला है। ईसवी 1148 का एक लेख गोलापूर्व डायरेक्टरी में छतरपुर से प्राप्त बताया गया है। ईसवी 1152 के (ले. क्र. 277, 278, 279) तीन रत्नत्रय मूर्तियों

पर अंकित हैं। ईसवी 1156 के भी तीन मूर्तिलेख (क्र 301, 302, 304) अहार से ही मिले हैं। ईसवी 1156 का ही एक लेख सोनागिरि में तलहटी के सोलहवें मन्दिर की एक प्रतिमा पर अंकित मिला है। इसके पश्चात् ईसवी 1171 का एक प्रतिमालेख (ले. क्र. 322) और ईसवी 1180 के तीन प्रतिमालेख-(क्र. 326, 328, 329) अहार से, ईसवी 1186 के दो लेख महोबा से (वर्तमान में क्षेत्रपाल ललितपुर में दोनों प्रतिमाएँ विराजमान हैं) और ईसवी 1231 का एक लेख अहार (क्र 326) में प्राप्त हुआ है। इस प्रकार तेरहवीं सदी तक इस अन्वय से सम्बन्धित इकतीस प्रतिलेख प्राप्त हुए हैं। उत्तर भारत में इस अन्वय के सर्वाधिक प्रतिमालेख उपलब्ध हैं। केवल अहार में ही इस अन्वय की 92 प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित विद्यमान हैं। उनके क्रमांक है-4, 6, 7, 8, 20-15, 17-20, 22, 29, 32-34, 36, 37, 43, 46, 50, 53-64, 66-68, 70-73, 75, 78 79, 83, 86, 94, 98, 108, 116, 133, 134, 140, 146-148, 170, 172, 174, 175, 179-184, 186, 204, 206, 212, 221, 228, 238, 250, 260, 277-279, 301, 302, 304, 322, 326, 328, 329, 336, 346 3514353।

(2) जैसवालान्वय

इस अन्वय के चार स्थलों से उल्लेख मिलते हैं-दूबकुण्ड, भीमपुर भोपाल और अहार। दूबकुण्ड का जैनमन्दिर ईसवी 1088 में इसी अन्वय के श्रावकों ने बनवाया था। ईसवी 1146 (ले. क्र 245) 1146 (ले. क्र 255, 258, 259), 1150 (ले. क्र. 266), 1152 (ले. क्र-274, 275), 1153 (ले. क्र. 290, 292), 1159 (ले. क्र. 311, 313, 315) और 1171 (ले. क्र. 323) में इस अन्वय के श्रावकों ने अहार (टीकमगढ) में तेरह प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराई थीं। ईसवी 1207 में प्रतिष्ठापित भोपाल नेमिनाथ जिनालय की मूल नायक प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले इसी अन्वय के श्रावक थे। नलपुर (नरवर) के पास भीमपुर में ईसवी 1262 में एक जिनालय निर्माण कराये जाने का उल्लेख भी मिलता है।

दूबकुण्ड प्रशस्ति में इस अन्वय का उदय जायसपुर से बताया गया है।

(3) अग्रोत्कान्वय

इस अन्वय का सर्वप्रथम उल्लेख अहार के ईसवी 1445 में प्रतिष्ठापित अष्टांग सम्यग्दर्शन यंत्र में मिला है (ले क्र 217)। तीन लेख (ले. क्र 9, 30, 80) ईसवी 1970 के और एक लेख (ले. क्र. 87) ईसवी 1973 का भी मिला है। इन अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि इस अन्वय के श्रावक पन्द्रहवीं सदी के मध्यकाल से ही दिगम्बर जैनधर्म मानने लगे थे और वे आज भी मान रहे हैं। ईसवी 1543 के एक सोनागिार प्रतिमालेख (5/239) में भी इस अन्वय का और इसके गग नामक गोत्र का उल्लेख मिलता है।

(4) परवरान्वय / परवाडान्वय

बुन्देलखण्ड–जिसे अतीत में जेजाकमुक्ति देश कहा गया है, गोलाश्र्वान्वय और परवरान्वय का बाहुल्य रहा है। सम्प्रति परवरान्वय ही परवार जाति है। कुड़ीला (टीकमगढ) की एक प्रतिमा-पादपीठ पर अंकित लेख में इस अन्वय का उल्लेख (ले क्र. 251) द्रष्टव्य है। यह लेख बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध ईसवी 1145 का है।

परवरान्वय का अपर नाम परवाडान्वय है। परवार जाति इसी का परिमार्जित रूप है। श्री बालचन्द्र जैन भूतपूर्व उपसंचालक पुरातत्व-संग्रहालय के सौजन्य से मऊ से प्राप्त हमें एक प्रतिमालेख ऐसा भी प्राप्त हुआ है जिसमें 'परवाडकुल' का उल्लेख किया गया है।

भीमपुर प्रशस्ति की 28वीं पंक्ति में मन्दिर निर्माता एक श्रेष्ठी को परवाड कुलाग्रणी कहा गया है। इस प्रकार ये प्रतिमालेख सिद्ध करते हैं कि ईसवी सन् की 12वीं सदी में टीकमगढ, छतरपुर और

शिवपुरी जिले में नरवर में गोलापूर्व और परवार जातियाँ विद्यमान थीं।

(5) पुरवाडान्वय

अहार में ईसवी 1042 और 1143 में महिषणपुर वासियों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं की आसनों पर अंकित (ले क्र 244 246) दो ऐसे लेख मिले हैं जिनमें 'पुरवाडान्वय' का उल्लेख किया गया है।

डॉ दरबारील 'कोठिया' ने अहार के रजत-जयन्ती अंक में प्रकाशित अपने लेख में इस अन्वय को पद्मावती पुरवाल जैन जाति से समीकृत किया है। कुड़ोला से अहार संग्रहालय में संग्रहीत (ले. क्र 241) एक प्रतिमा की आसन पर अंकित लेख में अन्वय का नाम परवाडान्वय और पुरवाडान्वय दोनों पढ़ने मे आते हैं किन्तु वहाँ एक प्रतिमालेख में (ले क्र 251) परपरान्वय अंकित प्राप्त होने से इस प्रतिमालेख का अन्वय परवाडान्वय शुद्ध प्रतीत होता है। इसी प्रकार ऊपर दर्शाए महिषणपुर बासियों की प्रतिमाओं के लेखों में भी पुरवाडान्वय न होकर परवाडान्वय ही होना चाहिए। कुड़ीला की प्रतिमाओं पर अंकित लेखों के समान ये लेख भी या तो भ्रान्ति से पुरवाडान्वय पढे गये हैं या भ्रान्ति से उत्कीर्ण किये गये हैं। मूलतः अन्वय परवाडान्वय है। पद्मावती पोरवाल जैनों का बुन्देलखण्ड में आवास दिखाई नहीं देता है। अतः डॉ. कोठिया का पुरवाडान्वय को पद्मावती पोरवाल जाति से समीकृत करना भी तर्कसंगत प्रतीत नही होता है।

(6) पौरपाढान्वय

इस अन्वय का सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमालेख ईसवी 1143 का (ले. क्र. 248) टीकमगढ जिले के कुड़ाला ग्राम से प्राप्त हुआ। परवरान्वय और परवाडान्वय अन्वयों से सम्बन्धित लेख भी (ले क्र 251, 241) इसी ग्राम की प्रतिमाओं की आसनों पर अंकित मिलने

से यह अन्वय परवार जाति का मूल नाम ज्ञात होता है। डॉ दरबारीलाल 'कोठिया' ने भी अहार रजत जयन्ती अंक में प्रकाशित अपने लेख में–अहार प्रतिमा लेखों में परवार जाति का उल्लेख न होने से आश्चर्य व्यक्त किया है, और उन्होंने इस अन्वय को परवार जाति का मूल नाम होने का अनुमान लगाया है। उनकी राय में परवार नाम इसी अन्वय का अपभ्रंश है। इस प्रकार परवरान्वय, परवाडान्वय, परवाडकुल, पुरवाडान्वय इसी अन्वय के अपर नाम सिद्ध होते हैं। ब्रह्म जिनदास ने चौरासी जैन जातियों मे चौवनवें क्रमांक से एक 'परवडा' जाति का उल्लेख किया है। अभिलेखों में प्राप्त ऊपर दर्शाए नाम इस जाति से समीकृत किये जा सकते हैं।

पौरवाटान्वय से सम्बन्धित चार लेख अहार से प्राप्त हुए हैं। इनमें एक ईसवी 1150 का (ले. क्र. 271), एक ईसवी 1152 का (ले. क्र. 280), और दो लेख (ले क्र. 283, 28·) ईसवी 1153 के हैं। जैसे गृहपत्यन्वय का नाम कालान्तर में गहोई हो गया एसे ही पौरपाटान्वय से परवार नाम विश्रुत हुआ ज्ञात होता है।

(7) गोलाराडान्वय

इस अन्वय के अहार से सात प्रतिमालेख प्राप्त हुए है (ले क्र.) 35, 40, 95, 96, 97, 99 और 327। इन लेखों में सर्वाधिक प्राचीन लेख ईसवी 1180 का (ले क्र 327) है। पंद्रहवी शताब्दी के विद्वान् ब्रह्म जिनदास ने चौरासी जैन जाति जयमाल में इस जैन जाति का भी उल्लेख किया है। गोलापूर्व और गोलाराड दोनों अन्वय किसी गोला नामक स्थान से उद्भूत ज्ञात होते हैं। ईसवी 1279 के तीन प्रतिमालेख (5/145-147) चक्रनगर (इटावा) मे मिले हैं। इस अन्वय का नाम–पूर्वपद गोला और उत्तरपद राड दोनों से मिलकर बना है। इससे अतीत में किसी गोलदेश के होने इस अन्वय के उससे सम्बन्धित रहने की संभावना उत्पन्न होती है।

(8) खण्डेलवालान्वय

अहार में इस अन्वय के इस प्रतिमालेख (ले. क्र. 49, 88, 93,

169, 267, 310, 320, 330, 331, 349) मिले हैं। इनमें चार प्रतिमालेख क्रमशः ईसवी 1150, 1159, 1166 और 1180 के हैं। ईसवी 1180 के लेख में इस अन्वय को खदिन्रान्वय और एक अन्य लेख में खंडिलरालान्वयस्य नाम मिले हैं।

(9) लमकंचुकान्वय

अहार (टीकमगढ़) के ईसवी 1147 (ले. क्र. 249) के एक प्रतिमा-लेख में तथा इसवी 1153 के लखनऊ संग्रहालय में प्राप्त प्रतिमालेख में (5/97) इसी नाम के अन्वय का उल्लेख है किन्तु अहार के ही ईसवी 1155 (ले क्र 284) के एक इतर प्रतिमालेख में इसका इतर नाम लमेचुकान्वय भी मिला है। वर्तमान में इसे लमेचु कहा जाता है। अहार के भोंयरे में ईसवी 1585 का एक ऐसा यंत्र भी है जिसमें लमकंचुकान्वय द्वारा उसके प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है।

(10) गर्गराटान्वय

इस अन्वय के अहार से तीन प्रतिमालेख मिले हैं। इनके दो प्रतिमालेख (ले. क्र 242, 243) ईसवी 1142 के और एक (ले क्र 254) ईसवी 1146 का है। इन लेखों से सिद्ध होता है कि बारहवीं सदी में गर्ग एक जैन जाति थी। राट् शब्द से इस अन्वय का किसी राजा से सम्बन्ध रहा ज्ञात होता है। संभवतः अग्रवाल, गर्ग गोत्र के श्रावक राज्याश्रय पाकर जैन हो गये थे तथा उन्होंने अपना इस नाम का अन्वय बना लिया था।

(11) वैश्यान्वय

अहार में एक प्रतिमा ईसवी 1146 में (ले. क्र. 256) इस अन्वय के श्रावकों ने प्रतिष्ठित कराई थी। इसका उल्लेख प्रतिमालेख में किया गया है। अभिलेखों में जैन मन्दिर निर्माताओं को श्रेष्ठी पद

से विभूषित बताकर वणिक् कहा गया है। वणिक का अर्थ है व्यापार। चारों वर्णों में व्यापार वैश्य कर्म बताया गया है। संभवत: जिन वणिक् लोगों ने अतीत में जैनधर्म स्वीकार कर लिया था उन्हें जब जैन जातियों ने आत्मसात् नहीं किया पर उन्होंने इस नाम से अपने पृथक अन्वय की स्थापना की और कुछ समयोपरान्त वे जैन-धर्म छोड़कर वैदिक धर्मानुयायी हो गये।

(12) माथुरान्वय

इस अन्वय का सर्वप्रथम उल्लेख ईसवी 843 के एक तेवर (त्रिपुरी-जबलपुर) प्रतिमालेख में मिला है। अहार में भी तीन प्रतिमालेख (ले. क्र. 261, 276, 294) ऐसे मिले हैं जो क्रमश: इसवी 1146, 1152 ओर 1154 के हैं। नवागंज (मालवा) से ईसवी 1459 का एक ऐसा मन्दिर लेख भी मिला है जिसमें माथुरगच्छ-पुष्करगण का नामोल्लेख है। ईसवी 1519 में रचे गये अमरसेन-चरिउ अपभ्रंश ग्रन्थ की प्रशस्ति में इस अन्वय को काष्ठासंघ का अनुयायी बताया गया है। अतः इन उल्लेखों के आलोक में सिद्ध होता है कि माथुरान्वय का उदय मथुरा से हुआ था। उत्तर भारत में इसका यथेष्ट प्रभाव रहा है।

(13) माधुन्वय

इस अन्वय का नामोल्लेख अहार में प्रतिष्ठापित ईसवी 1156 (ले क्र. 299) की एक प्रतिमा की आसन पर अंकित लेख में मिला है। स्व. डॉ. हीरालाल जैन ने जैनशिलालेखसंग्रह भाग प्रथम की अपनी प्रस्तावना में द्रविड देश के एक मधुरा नगर का नामोल्लेख किया है तथा राजमल्ल को वहां का राजा बताया है। संभवत: मथुरा नगरवासी अहार की धार्मिक कीर्ति से प्रभावित होकर तीर्थ-यात्रार्थ अहार आये थे। उस काल मे अहार में हुई प्रतिष्ठाओं से वे प्रभावित हुए और उन्होंने भी प्रतिष्ठा महोत्सव कराया। अपना नाम अन्वयादि प्रतिमाओं की आसनों पर अंकित कराने की प्रथा

का निर्बाह् करने के लिए उन्होंने अपने गृह नगर के नाम पर अपने अन्वय का नाम माथुन्वय रखा और वही नाम लेख में भी अंकित कराया। सम्भवतः यही कारण है कि इस अन्वय का चौरासी जैन-जातियों में उल्लेख नहीं है और न आज इस अन्वय का कहीं उत्तर भारत में अस्तित्व दिखाई देता है।

(14) कुटकान्वय / चित्रकूटान्वय

कुटकान्वय से सम्बन्धित अभिलेख अहार से प्राप्त हुए हैं। दो लेख (क्र 312, 314) इसवी 1159 के और एक लेख (लें. क्र. 200) ईसवी 1156 का है। एक लेख ऊन (पावागिरि) से ईसवी 1195 ऐसा भी मिला है जिसमें अन्वय का नाम 'चित्रकुटान्वय' बताया गया है। जैन-शिलालेख-संग्रह भाग 2 में ले क्र 208 से एक ऐसे लेख का उल्लेख किया गया है जिसमें चित्रकूटाम्नाय का नामोल्लेख मिलता है। यह लेख अनुमानतः ईसवो 1075 का है। चित्रकुटान्वय का उद्भव संभवतः इसी आम्नाय से हुआ है। कुटकान्वय-चित्र-कुटान्वय का संभवतः संक्षिप्त नाम है। नाम का पूर्व पद चित्र शब्द किसी कारणवश छोड़ दिया गया है। इस अन्वय का उदय भी माथुन्वय के समान हुआ ज्ञात होता है। मूलतः इसका सम्बन्ध चित्तौड़गढ़ से समझ में आता है।

(15) अवधपुरान्वय

अहार से ऐसे तीन प्रतिमालेख मिले हैं जो क्रमशः ईसवी 1157, 1159 और 1180 के हैं (ले. क्र 309, 318, 332) हैं। चौरासी जैन जातियों में अयोधिया, और अयोध्यपुरी जैन जातियों के नाम मिलते हैं। संभवतः इस अन्वय का नामकरण अवध प्रान्त के नाम पर किया गया है। अतीत में अयोध्या जैन केन्द्र रही है। संभवतः वहां के निवासी अहार वन्दनार्थ आये थे।

(16) बलागंगान्वय

अहार से प्राप्त लेखों मे इस अन्वय का एक ही लेख मिला है।

ईसवी 1171 का ले. क्र 324। इस अन्वय का नामकरण संभवत: वलात्कारगण के पूर्व पद 'वला' को लेकर किया गया है। इस अन्वय के जैन दक्षिण-भारती ज्ञात होते हैं। इस अन्वय का सृजन उन्होंने अपने आराध्य गण के नाम पर किया था। उत्तर भारत में इस अन्वय का वर्तमान में अभाव है और अभाव का कारण उचित सामाजिक सम्मान न मिल सकना ज्ञात होता है।

(17) गृहपत्यन्वय

इस अन्वय के केवल अहार से 16 लेख मिले हैं। इनमे पांच' लेख (ले. क्र 263, 265, 268, 270 और 271) ईसवी 1157 के, दो लेख (ले. क्र 273, 282) ईसवी 1152 के, दो लेख (ले. क्र. 288 291) ईसवी 1153 के, दो लेख (ले. क्र 303, 308) ईसवी 1156 के, एक लेख (ले क्र. 317 ईसवी 1159 का, दो लेख (ले. क्र. 1, 335) ईसवी 1180 के, एक लेख (ले. क्र 336) ईसवी 1231 का तथा एक लेख (ले क्र 342) प्रतिष्ठाकाल रहित है। एक प्रतिमालेख ईसवी 1148 का खजुराहो से भी मिला है।

इन लेखों में ले क्र 270 और 308 में इस अन्वय के 'कोछिल नामक एक गोत्र का नामोल्लेख भी किया गया है। यह गोत्र परवार जैनों का भी होता है। कुछ विद्वान् प्रस्तुत गोत्र को प्राथमिकता देकर इस अन्वय को परवार जाति से समीकृत करने लगे हैं जबकि जैनधर्म के दिग्गज विद्वान् स्व० पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने गहोई जाति को इसी अन्वय का अपभ्रंश रूप बताया है। स्व. डॉ हीरा-लाल जैन भी इसे गहोई मानते थे। अहार से प्राप्त लेखों में परवार जाति के लिए तीन अन्वयों के नाम मिले हैं-परवरान्वय, परवाडकुल अथवा पुरवाड और पौरपार। यदि यो कोछिल गोत्र परवार जाति के लिए प्रयोग में आता तो उसके साथ परवरान्वय, परवाडान्वय, पौरपाटान्वय नाम अवश्य अंकित मिलते। गृहपत्यन्वय के साथ कोछिल गोत्र का उल्लेख सिद्ध करता है कि गृहपत्यन्वय गहोई

जाति का सूचक है और इस अन्वय के साथ उल्लिखित कोछिल उसका गोत्र है।

शाह वख्तराम ने अपने बुद्धिविलास ग्रन्थ में चौरासी जैन जातियों में एक 'गहोई' जाति का भी उल्लेख किया है। इस उल्लेख से भी यही ध्वनित होता है कि गृहपत्यन्वय-परवार जाति का सूचक नहीं हैं। वह गहोई जाति का मूल नाम है। अतीत में खजुराहो, बानपुर अहार इस अन्वय के केन्द्र रहे हैं।

(18) मइडितबालान्वय

इस अन्वय के अहार से चार प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। प्रथम लेख ईसवी 1150 का है। (ले क्र. 264)। इस लेख में अन्वय का नाम मडदेवालान्वय बताया गया है। दूसरा लेख है ईसवी 1152 का (ले. क्र. 272)। इसमें अन्वय का नाम 'मेडवालान्वय' अंकित है। तीसरा लेख ईसवी 1143 का है (ले क्र. 285)। इसमें अन्वय का 'मइडितवालान्वय' और चौथा लेख भी ईसवी 1153 (ले क्र 287) का ही है किन्तु इसमें अन्वय का नाम मेडतवाल वंश बनाया गया है। इस प्रकार के चारों लेखों में किंचित भिन्नता दिखाई देती है किन्तु है चारों नाम एक ही वंश/अन्वय के।

स्व पं फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अपने एक लेख में खण्डवा के जैन मन्दिर की छत पर विराजमान प्रतिमा की आसन पर अंकित लेख में मइडवाल गुर्जरान्वे' उत्कीर्ण बताया है। इस लेख से सिद्ध है कि इस अन्वय का आवास गुजरात मे भी था। सभवत: यात्रार्थ कुछ श्रावक इस अन्वय के अहार आये और वे यहीं रहने लगे। बाग्विलास और बुद्धिविलास ग्रन्थों में इस अन्वय का उल्लेख मेडतवाल नाम से किया है। इसका उद्भव मारवाड़ के मेड़ता नगर से हुआ ज्ञात होता है।

(19) धर्कट कुल

राजौरगढ के ईसवी 923 के एक लेख (5/16) में इसका उल्लेख है।

जैन सामाजिक पद

प्रतिमा-प्रतिष्ठा लेखों में सामान्यतः प्रतिष्ठा कराने वालों के नामों का उल्लेख किया गया है। नामों के पहले विशेषण स्वरूप 'साधु' शब्द का व्यवहार हुआ है और पश्चात् उनको पत्नियों के नामों को दर्शाया गया है। लेख की इस शैली से साधु का अर्थयति। मुनि समझ में नहीं आता। ऐसे अभिलेखों में साधु शब्द का व्यवहार उस सामाजिक पद के रूप में हुआ है जिस पद का संयोग वर्तमान में बुन्देलखण्ड में प्रत्येक जैन श्रावक के लिए किया जा रहा है। अतः वर्तमान साव या शाह जैन सामाजिक पद से इसे समीकृत किया जा सकता है।

अभिलेखों में साधु/शाह पद के समान एक और सामाजिक पद का प्रयोग मिला है। वह है श्रेष्ठी। खजुराहो से प्राप्त संवत् 1142 ईसवी 1085 में प्रतिष्ठा कराने वाले नीवनशाह को श्रेष्ठी और उसकी पत्नी पद्मावती को सेठानी कहा गया है। अनेकान्त–बाबू छोटेलाल स्मृति अंक में यह लेख निम्न प्रकार प्रकाशित हुआ है— "सं 1142 श्री आदिनाथस्य प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी जोवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती"। इस लेख में पत्नी को 'सेठानी' पद से विभूषित किये जाने से श्रेष्ठी पद को वर्तमान जैन समाज में प्रचलित 'सेठ' नामक सामाजिक पद से समीकृत किया जा सकता है। ईसवी 1088 की दूबकुण्ड प्रशस्ति में जैन मंदिर निर्माता ऋषि और दाहड का राजा विक्रमसिंह के श्रेष्ठी पद से विभूषित करना उल्लेख मिलता हैं। इसो प्रशस्ति में ऋषि और दाहड के पितामह जासूक जायसवाल को भी 'श्रेष्ठी' पद से विभूषित बताया गया है। इस प्रशस्ति में पितामह के श्रेष्ठी पद से विभूषित रहने पर भी पौत्रों को राजा द्वारा श्रेष्ठी पद दिये जाने का उल्लेख किया गया है।

इसके पश्चात् ईसवी 1148 का एक लेख खजुराहो से ऐसा भी मिला है जिसमें पिता-पुत्र दोनों को श्रेष्ठी कहा गया है। अभिलेख निम्न प्रकार है-ॐ।। ग्रहपत्यन्वये श्रेष्ठि पाणिधरस्तस्य सुत श्रेष्ठि त्रिविक्रम तथा आतहूण लक्ष्मीधर।। संवत् 1205 माघ वदि 5।।

खजुराहो से ही ईसवी 1158 का एक लेख ऐसा भी मिला जिसमें पिता को श्रेष्ठी कहा गया है किन्तु पुत्र-पौत्र को इस पद क प्रयोग नहीं हुआ है।

इस सन्दर्भ में मऊ के ईसवी 1146 के प्रतिमालेख के निम्न दो पद्य भी ध्यातव्य हैं—

गोलापूर्वान्वये साधुः स्वयंभूधर्म्मवत्सलः।
तत्सुतौ स्वामिनामा च देवस्वामीगुणान्वितः॥
देवस्वामी सुतो श्रेष्ठी सुभचद्रोदय चन्द्रकः।
कारितं च जगन्नाथ शान्तिनाथो जिनोत्तमः॥

इस लेख में स्वयंभू गोलापूर्व को शाह और शान्तिनाथ प्रतिमा के निर्माता एवं प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले शुभचन्द्र उदयचन्द्र (साधु स्वयंभू के पौत्र) को श्रेष्ठी कहा गया है।

बहोरीवन्द लेख में भी प्रतिमा निर्माता को श्रेष्ठी पद से विभूषित बताया गया है किन्तु भीमपुर प्रशस्ति तथा इतर लेखों में ऐसे लोगों को भी श्रेष्ठी कहा गया है जो प्रतिमा या मन्दिर निर्माता नहीं बताये गये हैं।

इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि 11वीं शताब्दी में शाह और सेठ दोनों सामाजिक पद विद्यमान थे। इनमें शाह पद सभी को प्राप्त था। श्रेष्ठी पद की अपनी विशेषता रही है। यह पद उस समय के शासकों द्वारा ऐंसे जैनों को दिया जाता था जो प्रतिमा अथवा मन्दिर बनाकर विशेष उत्साहपूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव करते थे। अभिलेखों में एसे कुछ लोगों को भी श्रेष्ठी कहा गया है जो ऐसे महान् धार्मिक कार्य कराने वाले नहीं बताये गये हैं। ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने अतीत में ऐसे कार्य सम्पन्न कराये हैं। उन्होंने अपने कुटुम्बों धार्मिक वातावरण निर्मित किया है जिसके फलस्वरूप ही उनके पुत्र-पौत्र ऐसे कार्य कराते हुए बताये गये हैं। वर्तमान की भांति अतीत में यह पद वंशानुगत नहीं रहा है। ये पद किसी अन्वय

विशेष में ही प्रचलित नहीं रहे। किसी अन्वय का जैन हो जिसने ऐसे महान् कार्य कराये उसे यह पद दिया गया है। पदों में कोई जाति-भेद नहीं रहा।

यह परम्परा 13वीं शताब्दी तक अनवरत प्रचलित रही। इसके पश्चात् प्रतिष्ठादि महोत्सवों का स्थान तीर्थयात्रा संघों ने लिया। आवागमन के साधनों का अभाव रहने से तीर्थयात्राएँ बहु व्ययसाध्य और कठिन थीं। अतः संघों के क्रम में तीर्थयात्राएँ आरम्भ हुईं। ऐसे संघों का व्यय वहन कर नेतृत्व करने वाले 'संघपति' नाम से पुकारे गये। कालान्तर में यही नाम संघवई और सिंघई होकर एक सामाजिक पद के रूप में परिणत हो गया।

श्रेष्ठी पदों से विभूषित जैनों ने 'सिंघई' पद को श्रेष्ठी पद से श्रेष्ठ होने की मान्यता नहीं दी। फलस्वरूप सिंघई पद को श्रेष्ठी (सेठ) और साधु (शाह) पदों के मध्य सर्वसम्मति से स्थान दे दिया गया।

आवागमन के साधनों का विकास होते ही तीर्थयात्रा संघ कम हो गये। उनका महत्त्व कम होने लगा। संघपति वर्ग को सिंघई पद की प्राप्ति में बाधाएँ आने लगीं। पद लिप्सा किन्तु बनी रही। बुन्देलखण्ड में एक नया धार्मिक कार्य आरम्भ हुआ गजरथ-महोत्सव। जो ऐसे महोत्सव कराता वह महोत्सव का सर्वत्र आमंत्रण भिजवाता और आने वालों की आवास एवं भोजन व्यवस्था का समस्त व्यय-भार स्वयं उठाता था। ऐसे कार्य कराने वालों को समाज विभिन्न पद देकर सम्मानित करती थी। एक गजरथ महोत्सव कराने वाले को सिंघई, दो गजरथ महोत्सवों के आयोजक को 'सवाई सिंघई' तीन गजरथ महोत्सवों के आयोजक को 'सेठ' और चार गजरथ महोत्सवों के आयोजक को "श्रीमन्त सेठ" पदों से विभूषित किया जाने लगा। अब ये पद वंशानुगत हो गये हैं। सामाजिक पदों की यह व्यवस्था बुन्देलखण्ड में ही प्रचलित रही है और आज भी चल रही है। कुछ परिवर्तन अवश्य कर लिए गये हैं।

संघ-परिचय

सस्कृत जैन अभिलेखों में विभिन्न संघ और उनके साथ विभिन्न गण, गच्छ, अन्वय एवं वलियों के नामोल्लेख मिलते हैं। उत्तर भारत से दक्षिण भारत में भद्रबाहु द्वितीय के आगे तथा उनसे दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रतिष्ठित होना ज्ञात होता है (ले. क्र. 1/17.18)। कालान्तर में जैनधर्म के यहाँ दो संघ बन गये-श्वेतपट महाश्रमण सघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमण संघ (ले क्र (2/98)। एक इतर लेख में यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक संघों के नाम भी हैं। (ले. क्र. 2/99)। इन संघों में निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्राबाहु द्वितीय द्वारा संस्थापित ज्ञात होता है। यही संघ अनुमानतः आगे जा जाकर मूलसंघ के नाम से विश्रुत हुआ।

मूलसघ - इस संघ का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख गंगवंश के राजा माधव वर्मा द्वितीय के ताम्रपट्टिकाओं पर अंकित लेखों में मिला है। ये नोणमंगल से प्राप्त हुए हैं तथा इनका समय ईसवी 370, 425 अनुमानित किया गया है (ले क्र 2/90, 94)। इन लेखों में इस संघ के गण गच्छ आदि का उल्लेख नहीं किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द इस संघ के प्रथम आचार्य बताये गये हैं। ईसवी 1100 के एक में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है —

> श्रीमतो बर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
> श्री कोण्डकुन्दनामाभून्मूलसंघाग्रणी गणी ॥3॥

लेख क्रमांक 1/105 पद्य 26-27 (शक सं. 1320) से ज्ञात होता है कि इस कोण्डकुन्दान्वय मूलसंघ के कालस्वभाव से संघ में उत्पन्न दोषों को कम करने के लिए आचार्य अर्हद्वलि ने इसे देश भेद से चार संघों में विभाजित किया था। संघों को सेनसंघ, नन्दिसंघ, त्रिदिवेश संघ (देवसंघ) और सिंहसंघ नाम दिये गये थे। इनमें कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं रखा गया था। भेदबुद्धि उत्पन्न न हो इस ध्येय से भेदबुद्धि रखने वाले को कुदृष्टि नाम दिया गया था।

यह चतुर्विध संघ विभाजन स्वामी अकलंकदेव के मरणोपरान्त कभी हुआ बताया गया है (ले क्र 1/40 और 108)। इस संघ-विभाजन से दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थ साधु जो स्वयं को भद्रबाहु श्रुतकेवली की आम्नाय में हुआ मानते थे, अन्य मुनि संघों से भिन्नत्व प्रकट करने के लिए अपने आपको मूलसंघी कहने लगे। स्व श्री नाथूराम 'प्रेमी' की धारणा थी कि मूलसंघ की स्थापना अपने आप से अतिरिक्त दूसरों को अमूल-जिनका कोई मूलाधार नहीं, बतलाने के लिए की गयी है।

सेनसंघ—इस संघ को चतुर्विध मूलसंघ का उदयान्वय संघ बताया गया है (ले. सं 4/55 पं 45-46 ईसवी 821)। लेख क्रमांक 2/137 ईसवी 903 के लेख में इसे 'सेनान्वय' कहा है। नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना उत्तरपुराण में (प्रशस्ति में) आचार्य गुणभद्र ने अपने दादागुरु वीरसेन को मूलसंघ-सेनान्वय का साधु बताया है जबकि जयधवला, धवलाटीका में गुणभद्र के गुरु और दादागुरु जिनसेन और वीरसेन का अन्वय-पंचस्तूपान्वय बताया गया है। जैन शिलालेख-संग्रह भाग-3 की प्रस्तावना में स्व० डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने पहाड़पुर से प्राप्त लेख के आधार से ईसवी पाँचवीं सदी में पंचस्तूपान्वय को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधु का संघ रहा होना बताकर लिखा है कि आचार्य गुणभद्र ने गुरु और दादा-गुरु के नाम सेनान्त देखकर ही पचस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप में प्रयोग किया है। श्री जिनसेन इस संघ (गण) के प्रथम आचार्य थे।

इस संघ के मूलसंघ के गण के रूप में उल्लेख मिलते हैं। हिरे आवलि के ई. 1255 ले. क्र. 3/538 में इसे मूलसंघ का गण ही बताया गया है। इसकी तीन शाखाएँ ज्ञात होती हैं-पोगरि या होगरि गच्छ, पुस्तकगच्छ और चन्द्रकवाट-अन्वय। इनमें ईसवी 893 के ले. क्र 8/61 में मूलसंघ सेनान्वय और पोगरियगण का, ईसवी 1047 के ले. क्र 4/134 पंक्ति 7-8 में मूलसंघ सेनान्वय होगरिगच्छ का उल्लेख है। इसकी दूसरी शाखा चन्द्रकवाटान्वय का उल्लेख ईसवी 1053 ले क्र. 4/138 पं. 22-23 में मूलसंघ सेनान्वय

के साथ मिला है किन्तु ईसवी 1066 के ले. क्र 4/147 में मूलसंघ और इस अन्वय का ही उल्लेख है, गण-नाम नहीं है। इसी प्रकार ईसवी 1081 ले क्र. 165 पे 28 में मूलसंघ और सेनगण का उल्लेख है, अन्वय का उल्लेख नहीं है। इन लेखों से सेनसंघ-गण और अन्वय के रूप में मूलसंघ के साथ रहा सिद्ध होता है। सेनगण का मूलसंघ के साथ प्रयोग 15वीं सदी तक होता रहा है (5/228)।

सेनगण की तीसरी शाखा-पुस्तकगच्छ भी इसका उल्लेख 14वीं सदी के ले. क्र. 4/415 में हुआ है। इसमें आचार्य गुणभद्र, उनके गुरु और दादागुरु को सेनगण की इसी शाखा से सम्बद्ध बताया गया है।

देशीगण—इसे नन्दिगण का प्रभेद बताया गया है। शक संवत् 1085 के ले क्र 1/40 में कहा है—

इत्याद्युद्धमुनीन्द्र सन्ततिनिधौ श्रीमूलसंघे ततो
जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्दृशी गणे विश्रुते।

स्व० डॉ गुलाबचन्द्र ने देशीगण को देश शब्द से निष्पन्न बताया है तथा पश्चिमी घाट के उच्चभूमि भाग (बालाघाट म प्र) और गोदावरी नदी के बीच स्थित कन्नड प्रान्त के भभाग को एक समय में 'देश' कहे जाने का उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी लिखा हैं कि वहाँ के ब्राह्मण अब भी देशस्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। उनका अनुमान है कि देश नामक प्रान्त में रहने वाले साधु सम्प्रदाय को आरम्भ में देशिय कहा गया और कालान्तर में वही एक प्रमुख गण के रूप में परिणत हुआ है।

डॉ चौधरी के इस कथन में 'देश' शब्द विचारणीय है। मदनपुर से प्राप्त संवत् 1239 के एक स्तम्भ लेख में जेजाकभुक्ति नामक एक देश तथा वहाँ के राजा चन्देल परमर्दिदेव को पृथ्वीराज द्वारा पराजित किये जाने का उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि चन्देल शासित भूभाग अतीत में जेजाकभुक्तिदेश कह-

लाता था। चन्देलों का शासन महोबा, मऊ, छतरपुर, खजुराहो, देवगढ़, पपौरा अहार आदि स्थलों में रहा प्रमाणित होता है। इन स्थानों की स्थिति से-चन्देल शासित प्रदेश का आकार गोल ज्ञात होता है तथा यही भूखण्ड अतीत में गोल्लदेश के नाम से विश्रुत रहा है जिस गोल्लदेश का गोल्लाचार्य को स्वामी बताया गया है (1/40, 47)।

मूलसंघ, देशीगण और पुस्तकगच्छ का लेखों में अधिक प्रयोग हुआ है (उदाहरणार्थ 1/47, 48, 49, 50)। शक संवत् 1099 के एक लेख में मूलसंघ का नाम नहीं है किन्तु कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख किया गया है (1/42)। मूलसंघ देशीगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ उल्लेख सर्वप्रथम ईसवी 860 के ले क्र 2/127 में हुआ है। ऐसा लेख इसके पश्चात् ईसवी 1044 का (ले. क्र 2/180) मिला है। ई. 1087 का ले क्र. 5/55 है :

मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छ की तीन बलिशाखाएँ हैं-पनसोगे, इनसोगेय और इंगलेश्वर। पनसोगे शाखा का उल्लेख 12वी सदी के ले. क्र 4/192 में, 10वीं सदी के ले. क्र 4/74-75 में उल्लेख मिलता है। दूसरी मूलसंघ देशीगण हनसोगे शाखा का उल्लेख ईसवी 1257 के ले. क्र 4/335 और 14वी सदी के ले क्र. 4/416 में हैं। तीसरी इंगलेश्वर शाखा का उल्लेख 13वीं सदी के ले. क्र 4/369 में मूलसंघ, देशीगण, पुस्तकगच्छ, कोण्डकुन्दान्वय के साथ मिला है। ले. क्र 4/378, 382, 606, और 642 में भी इस बलि/ शाखा का नामोल्लेख है। ले. क्र. 1/105, 108, 129 में भी यह शाखा द्रष्टव्य हैं।

आर्यसंघसंग्रहकुल—देशीगण का दूसरा उपभेद हैं। इसका उल्लेख 10वीं सदी के ले. क्र. 4/94 में हुआ है। तीसरा उपभेद है-चन्द्रकराचार्याम्नाय। इस आम्नाय का अस्तित्व मध्यप्रदेश के बहोरीबन्द (जबलपुर) और उसके निकटवर्ती प्रदेश में रहा है (ले. क्र. 4/217)। देशीगण का चौथा उपभेद गणदान्वय है। इसका

उल्लेख 13वीं सदी के ले. क्र. 4/372 में अंकित मिला है। पांचवां उपभेद गोमिनि अन्वय है। इसका उल्लेख ईसवी 1224 के ले. क्र. 5/139 में मिला है। ईसवी 1158 के एक लेख में (ले. क्र. 5/100) देशीगण के खजुराहो में विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार खजुराहो और बहोरीबन्द में देशीगण का अधिक प्रभाव रहा ज्ञात होता है।

देशीगण के आचार्यों के नाम के साथ भट्टारक पद संयुक्त मिलता है। ईसवी 9-10वीं सदी के ले. क्र 2/131, 132, 133, 134, 135, 136, 144, 149 आदि में मुनियों को 'भटार' उपाधि दी गई है। इसके बाद के समय में इस गण के आचार्यों की उपाधि सिद्धान्तदेव, सैद्धान्तिक तथा त्रैविध रही है। ले क्र. 2/127 पद्य 47 में मेघचन्द्र को त्रैविध कहा गया है। इसी प्रकार ईसवी 971 के ले. क्र. 2/150 में कोण्ड कुन्दान्वय देशियगण के देवेन्द्र भटार को सिद्धान्त पद दिया गया है। ईसवी 1274 के ले. क्र 3/514 में आचार्य अभयचन्द्र को सिद्धान्तचक्रवर्ती कहा गया है। अहार ले. क्र 307, 313, 315 सागरसेन (मुनि) को सिद्धान्ती और सिद्धान्तदेव पद से विभूषित बताया गया है। संभवतः अहार में भी देशीगण के साधुओं का प्रभाव रहा है। इस गण का प्रमुख गच्छ पुस्तकगच्छ है। इसी गच्छ का दूसरा नाम वक्र गच्छ बताया गया है (ले. क्र. 1/55, पद 22)।

देवसंघ—इसका उल्लेख गण के रूप में हुआ है। ईसवी 734 के एक लेख में (2/114) इसे मूलसंघान्वय का गण बताया गया है। पाषाणन्वय इसी गण की एक शाखा थी (2/1?3)। ईसवी 687 (2/111), ईसवी 729 (2/113) और ईसवी 734 (2/114) के अभिलेखों में भी मूलसंघान्वय के साथ गण के रूप में ही इसके नामोल्लेख मिलते हैं। इस गण के आचार्यों के नाम देशान्त ज्ञात होते हैं।

नन्दिसंघ—मूलसंघ का विभाजन होते समय मूलसंघ की चारों शाखाओं को संघ कहा गया था (2/105, 2/108)। संघ के रूप में

ही इसका नामोल्लेख यापनीय नाम के साथ ईसवी 812 के लेख (2/124) में हुआ है। कालान्तर में यापनीय संघ ने इसे आत्मसात कर लिया ज्ञात होता है।

यापनीय संघ – स्व० डॉ गुलाबचन्द्र चौधरी ने जैनशिलालेख संग्रह भाग 3 की प्रस्तावना में लिखा है कि इस संघ के साधु दिगम्बर साधुओं के समान नग्न रहते, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे। वे श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार और सग्रन्थावस्था भी मानते थे। संभव है यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर और दिगम्बरों के बीच की एक कड़ी था।

ईसवी 470-490 में इस संघ का सर्वप्रथम उल्लेख कदम्ब नरेश मृगेशवर्मा के एक दानपत्र में (2/99) निर्ग्रन्थ और कूर्चक संघों के साथ हुआ है। एक लेख में (2/105) यापनीय संघेभ्य. हुए बहुवचन प्रयोग से इस संघ के अवान्तर भेद ज्ञात होते हैं। छठी सदी पूर्वार्द्ध के एक लेख में यवनिकसघ (4/20) का उल्लेख हुआ है जो यापनीय संघ ही ज्ञात होता है। अभिलेखों मे इस संघ के निम्न गणों का उल्लेख मिलता है-

(अ) कनकोपलसम्भूत वृक्षमूलगण—ईसवी 488 के ले. क्र. 2/106 में इसका उल्लेख हुआ है। आचार्यों के नाम नन्द्यन्त बताये गये हैं।

(ब) श्रीमूल-मूलगण/पुन्नागवृक्षमूलगण—ईसवी 776 के लेख 2/121 में श्रीमूलमूलगण का उल्लेख नन्दिसंघ के साथ हुआ है। ईसवी 812 लेख क्रमांक 2/124 में पुंनागवृक्षमूलगण के साथ श्री यापनीय नन्दिसंघ और श्री कित्याचार्यान्वय का उल्लेख है। इस लेख से यह सिद्ध है कि नन्दिसंघ को यापनीय संघ ने आत्मसात् कर लिया था किन्तु उसके अस्तित्व की समाप्ति न कर सका था। ईसवी 1044 के एक लेख में (4/130) यापनीयसंघ और इस गण का उल्लेख है। नन्दिसंघ का नाम नही दिया गया है। ईसवी 1165 ले.

4/259 में भी यही स्थिति है। अतः अनुमानतः नन्दिसंघ नौवीं सदी के पूर्वार्ध तक यापनीय संघ के साथ रहा इसके पश्चात् उससे विलग होकर वह मूलसघ देशीगण में विलीन हो गया।

(स) **वृक्षमूलगण**—इसका नामोल्लेख ईसवी 1096 के एक लेख में (4/168) यापनीय संघ के साथ मिला है।

(ह) **कण्डूरगण**—इसे यापनीय संघ का विख्यातगण बताया गया है। इस गण के चार लेख मिले हैं–4/207, 4/368, 4/386 और 5/117।

(इ) **कारेयगण**- इस गण का उल्लेख 12वीं सदी पूर्वार्ध के ले. क्र. 4/209 में मिलता है।

(ई) **कुमुलि अथवा कुमुदिगण**—इस गण के चार लेख हैं–4/70, 4/131, 4/611 और 4/612।

(उ) **वन्दियूर/वडियूरगण** ये दोनों अभिन्न ज्ञात होते हैं। इनका उल्लेख 5/70, 5/86, 5/125 लेखों में हुआ है।

यापनीय सघ के गणों का वृक्षों से सम्बन्धित होने में डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने वृक्षों के नामों को साधु सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताया है। उन्होंने पुन्नाग-नागकेशर वृक्ष के समीप से आने वाले साधुओं को पुन्नागवृक्ष मूलगण, श्रीमूल-शाल्मलि वृक्ष के पास से आने वाले साधुओं को श्रीमूल मूलगण, तथा कनक-चम्पा, पलाश या धतूरा, उपलपाषाण या रान अर्थात् उक्त वृक्षों से घिरे पाषाणों के पास से आने या वहीं बैठने आदि के कारण साधुओं का कनकोपल-सम्भूत मूलगण नाम पड़ने की संभावना की है। पाँचवीं सदी से 11वीं सदी तक के लेखों में इन गणों का अभाव और ईसवी 1108 के एक लेख में (2/250) मूलसंघ के साथ पुन्नागवृक्षमूलगण का उल्लेख होने से नन्दिसंघ को मूलसंघ द्वारा आत्मसात कर लिए जाने का भी अनमान लगाया है। इस सघ का बलहारिगण (2/144)

मूलसंघ में सम्मिलित करके उसे बलात्कारगण नया नाम (2/208) दिया जाना भी कहा है।

कोण्डकुन्दान्वय

यह कुन्दकुन्दान्वय का मूल नाम है। इसकी रचना कोण्डकोन्द-पुर से आये मुनि के प्रभाव के कारण उनके नगर के नाम पर हुई ज्ञात होती है। 11वीं सदी के लेख क्रमांक 1/55 में श्री कोण्डकुन्द को मूलसंघ का अग्रणी बताया गया है। बीना (इटावा) मध्यप्रदेश से हमें एक ऐसा ईसवी 1148 का प्रतिमालेख मिला है, जिसमें मूलसंघ और कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है। लेख निम्न प्रकार है—

श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये संवत् 1205 नग्र इटावौ माघसुदी पंचमी ता दिन श्री जिनबिंब प्रतिष्ठा कारापितं सोमवार पंचमी।

इस लेख से सिद्ध होता है कि मूलसंघ और कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय दोनों पर्यायवाची है। ईसवी 797 के लेख क्र. 2/122 में कोण्ड-कुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है। ईसवी 802 के ले. क्र 2/123 में इसका नाम गण के रूप में आया है।

कोण्डकुन्दान्वय का देशीगण के साथ सर्वप्रथम प्रयोग ईसवी 901 के ले. क्र. 2/150 में हुआ है। देशस्थ साधु इससे अधिक प्रभावित हुए। यही कारण है कि वे कोण्डकुदान्वय देशीयगण के नाम से विश्रुत हुए।

बलात्कारगण

इसका उदय बलिहारि या बलगार स्थान से हुआ संभावित है। स्व० नाथूराम 'प्रेमी' के अनुसार इस गण के आदि नायक आचार्य पद्मनन्दि थे। उन्होंने सरस्वती को बलात्कारपूर्वक बुलाया था इसलिए बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ प्रसिद्ध हुए। इस गण का

सर्वप्रथम नाम ईसवी 1075 के ले क्र. 2/208 में हुआ है। इसमें इस गण नाम के साथ चित्रकूटान्वय का नाम आया है। ईसवी 1386 के ले. क्र. 3/585 में प्राप्त श्लोक ध्यातव्य है –

श्रीमूलसंघेजनिनंदिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोतिरम्यः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥3॥
आचार्य कुंदकुंदाख्यो वक्रगीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पंचधः ॥4॥

इस लेख में पद्मनन्दी को कुन्दकुन्द का अपर नाम दर्शाकर मूलसंघ के साथ नन्दिसंघ, बलात्कारगण तथा सरस्वतीगच्छ के साथ पद्मनन्दी का उल्लेख ऊपर कहे गये श्री प्रेमी जी के कथन की पुष्टि करता है।

ईसवी 1071 (4/154) के एक लेख में मूलसंघ नंदिसंघ बलगारगण वेलरिंदादन्वय का उल्लेख है। इसमें बलात्कारगण को बलगारगण कहा गया है तथा गण नया नाम मिला है। ईसवी 1265 (4/342) में बलात्कारगण नाम का प्रयोग आरम्भ हो गया ज्ञात होता है।

सरस्वतीगच्छः- मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय और नन्दिसंघ बलात्कार गण के साथ सरस्वती गच्छ का प्रयोग तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध से दिखाई देता है। बावनगजा मध्यप्रदेश में एक ईसवी 1223 का ऐसा ही प्रतिमालेख मिला है (मध्यप्रदेश सन्देश वर्ष 60 अंक 20)। ईसवी 1355 के एक लेख में मूलसंघ के साथ बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख किया गया है (4/393)। लेख 4/404, 4/434, 4/448 आदि में भी इसी गच्छ का व्यवहार हुआ है। बीना से प्राप्त ईसवी 1148 के प्रतिमालेख से इस गच्छ का व्यवहार ईसवी 12वी सदी के मध्य से आरम्भ हुआ ज्ञात होता है। इसके पूर्व पुस्तकगच्छ के नाम से इसका प्रयोग हुआ है।

काष्ठासंघ

इस संघ की चार शाखाएँ थी–नन्दितट, माथुर, बागड और लाटवागड। इनमें नन्दितट गच्छ का उल्लेख ईसवी 1662 के एक लेख में (1/119) मिला है। इस लेख में इसे गण्डितट कहा है। दक्षिण भारत का यह प्रथम लेख है। उत्तर भारत में अनुमानित 10वीं सदी का एक वैखर (मन्दसौर) से मिला है (4/114) जिसमें नन्दियड संघ का उल्लेख है। इस लेख में उल्लिखित एक आचार्य का नाम ईसवी 1223 के बावनगज (वरागज) लेख में आया है। इस लेख में नन्दिसंघ का उल्लेख हुआ है। सोनागिरि से ईसवी 1644 का प्राप्त लेख एसा है जिसमें गच्छ का नाम नंदीतट बताया है। इस लेख में गुरु पादुकाएँ स्थापित किये जाने का उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों से इस गच्छ का 17वी ईसवी के मध्य में उदय हो जाना प्रमाणित होता है।

काष्ठासंघ की दूसरी शाखा माथुरगच्छ का उल्लेख लेखों में "माथुरान्वय" नाम से हुआ है। ईसवी 1109 के एक लेख मे (3/305) इसी अन्वय का नाम दिया है। ईसवी 1146, 1152, 1154 के प्रतिमालेख अहार में भी मिले हैं। इनका विवरण इसके पूर्व माथुरान्वय जैन जाति के प्रसग में दिया जा चुका है। ग्वालियर में भी इस अन्वय का अस्तित्व दिखाई देता है (3/636, 3/640)। ईसवी 1456 के एक लेख में इसे कांचीसघ का अन्वय बताया गया है (3/640) किन्तु ले. क्र. 3/643 से काचीसंघ-काष्ठासघ का ही अपर नाम ज्ञात हाता है। इसी लेख में 'माथुरगक्छ' नाम भी मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि काष्ठासंघ से प्रभावित मथुरा-वासियों ने अपने को 'मथुरान्वय' नाम से दिया है। ईसवी 1160 और 1175 के दो लेखों मे (5/101, 5/107) माथुर संघ नाम बताया गया है। वागड गण के लेख ई. 995 (5/21) और ई. 1004 के (5/30) के मिले हैं। चौथा लाटवागढ नामक गण है। इसके उत्तरभारत में दूबकुण्ड से दो लेख मिले हैं। इनमें ईसवी 1088 के

लेख में (2/228) प्रशस्ति निर्माता विजयकीर्त्ति और उनकी गुरु-परम्परा में हुए आचार्यों में क्रमशः देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन और शान्तिषेण के नामोल्लेख है। ईसवी 1095 के दूसरे लेख (2/235) में इस गण के उन्नत रोहणाद्रि आचार्य की स्मृति स्वरूप उनके चरण स्थापित किये जाने का उल्लेख किया गया है।

सूरस्थगण :—इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख सन् 962 का है (4/85)। ईसवी 1054 में इसे सूरक्त गण (2/185), ईसवी 1095 में सुराष्ट्र (2/234), ईसवी 1117 में सूरस्थ (2/269) कहे जाने के उल्लेख है। ईसवी 1142 के एक लेख मे सूरस्थगण को मूलसंघ की शाखा बताया गया है (3/318)। ईसवी 1246 के लेख में भी इसे मूलसंघ का गण बताया है (3/490) किन्तु ईसवी 1295 के एक लेख में (3/541) इसे मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय का गण बताया है। नाम सौराष्ट्रगण बताया है। इसके दो गच्छ थे-कौरूर और चित्रकूटान्वय। इनमे कौरूरगच्छ का उल्लेख सन् 1007 के लेख में (4/117) हुआ है। चित्रकूटान्वय का उल्लेख ई 1071 (4/153), ई. 1074 का (4/158), ईसवी 1148 (4/237 238) और 13वीं सदी के एक लेख (5/163) मे मिलता है। इस प्रकार 10वीं से 13वीं सदी तक यह विद्यमान रहा ज्ञात होता है।

क्राणूरगण—इस गण के 11वीं सदी के उत्तरार्ध से 14वीं सदी तक के लेख मिले हैं। इसके तीन गच्छ थे—मेष पाषाण गच्छ (ले. क्र. 2/219, 2/267, 2/277, 2/299, 3/353, 4/214, 4/603, 5/81), तिन्त्रिणीक गच्छ (2/209, 2/263, 3/313, 3/377, 3/389, 3/408, 3/431, 3/459, 3/582, 4/212, 4/291, 4/323, 4/476, 4/565, 4/619) और पुस्तक गच्छ (4/240)। इस प्रकार 10वी सदी से 16वीं सदी तक यह गण विद्यमान रहा ज्ञात होता है।

गौणसंघ (4/84), द्राविडसंघ (4/175) माथुरसंघ (4/265) जम्बूरखण्डगण (4/22) निगमान्वय (4/390) और काष्ठासंघ की वागडगण (5/21, 5/30) के उल्लेख लेखों में मिलते हैं।

राजवंश-परिचय

संस्कृत जैन अभिलेखों में राजवंशों और राजाओं के नामोल्लेखों के साथ काल भी अंकित मिलता है। ऐसे लेखों से ऐतिहासिक घटना-चक्रों को समझने, काल निर्णय करने और नये राजवंशों के ज्ञान में अपूर्व सहयोग मिलता है। कतिपय राजाओं और नये राजवंशों का विवरण निम्न प्रकार है—

रामगुप्त

विदिशा (म. प्र) से दो मील दूर दुर्जनपुर ग्राम से ऐसी तीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनको आसनों पर अंकित लेखों में क्षपण चेल्ल के उपदेश से प्रभावित होकर महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा उनके बनवाये जाने का उल्लेख किया गया है।

इतिहास में समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका द्वितीय पुत्र चन्द्र-गुप्त बताया गया है। इन अभिलेखो की प्राप्ति के पूर्व तक रामगुप्त को कायर समझा गया और उसे शासक नहीं माना गया किन्तु इन अभिलेखों में उसे 'महाराजाधिराज' विरुद से विभूषित बताया जाना उसके शासक होने का प्रमाण है।

इन लेखों और इसी स्थल से मिले सिक्कों के आधार से इसके जैन होने की उत्पन्न की गयी आशंका भी नही रह जाती है। इन लेखों में इसे जैन नहीं कहा गया है। जैन प्रतिमाओं के निर्माण कराने मात्र से इसे जैन नही माना जा सकता। यह तो उसकी धार्मिक सहिष्णुता का उदाहरण है। अनेक शासकों ने जैसे जैन मन्दिरों की व्यवस्था के लिए विभिन्न दान देकर अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है ऐसे ही यह कार्य इस शासक की उदारता एवं सहिष्गुता का परिचायक है।

चन्देल-राजवंश

देवगढ और खजुराहो इस राजवंश के प्रमुख नगर थे। अनेक

जैन प्रतिलेख इन स्थलों से प्राप्त हुए हैं। इन लेखों में इस राजवंश के जिन राजाओं के नामोल्लेख मिलते है उनका परिचय निम्न प्रकार है—

राजा धंग खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर इसी राजा के शासनकाल में निर्मित हुआ था। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर अंकित ईसवी 954 के लेख मे मन्दिर के लिए दान में सात वाटिकाएँ देने वाले पाटिल को इस राजा ने सम्मानित किया था (एपि. इ. भा. 1)। वासवचन्द्र इनके गुरु थे (2/147)।

विद्याधर देव खजुराहो के शान्तिनाथ मन्दिर में आदिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा इसी राजा के शासनकाल सन् 1028 में हुई थी (2/176)। ईसवी 1088 की दूबकुण्ड प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कच्छपघात वंश की दूबकुण्ड शाखा का द्वितीय नरेश अर्जुन इसके अधीन था। इसने अर्जुन नरेश का सहयोग करने उसके प्रतिद्वन्द्वी गुर्जर प्रतिहार नरेश राज्यपाल को युद्ध में मार डाला था (2/228)।

कीर्त्तिवर्मन—विद्याधर देव के मरणोपरान्त ह्रास हुई चन्देल-शक्ति को इसने अपने पौरुष से सम्हाल लिया था। इसके मत्री वत्सराज ने सन् 1097 में देवगढ में एक दुर्ग बनवाया था जिसका नामकरण उसने इसी राजा के नाम पर किया जा (देवगढ की जैन-कला : परिशिष्ट दो)।

मदनवर्मदेव—इसके शासनकाल में अनेक जैन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई। कुछ प्रतिमालेखों में इसका नामोल्लेख भी हुआ है। पपौरा (टीकमगढ) से ईसवी सन् 1145 का एक प्रतिमालेख ऐसा मिला है जिसमें इस राजा का नामोल्लेख किया गया है। ऐसा ही एक लेख मऊ से (धुबेला संग्रहालय सं. 24) सन् 1146 का मिला है। खजुराहो से दो लेख मिले हैं—सन् 1148 और 1158 के (एपि. इ. भाग एक)। महोबा के ईसवी 1154 (3/337) और 1158

(3/342) के प्रतिमालेखों मे भी इस शासक का नाम है। यह अपने समय का प्रभावशाली शासक रहा है। अहार के मदनसागरपुर (अहार ले क्र 272, 292) और मदनेशनागरपुर (अहार 1/1) प्राचीन नाम इसी शासक के नाम पर रखे गये ज्ञात होते हैं।

परमर्दिदेव— महोबा-ईसवी 1167 में इस राजा के राज्य में था (3/365)। अहार की कला इसी के शासनकाल में विकसित हुई। ईसवी 1180 में रूपकार पापट ने तीर्थंकर शान्तिनाथ प्रतिमा का निर्माण खड्गासन में इसी के शासनकाल में किया था। इस समय अहार का नाम मदनेशसागरपुर था (अहार 1/1)। मदनपुर से ईसवी 1182 का एक लेख ऐसा मिला है जिसमें इसे जेजाकमुक्तिदेश का राजा बनाया गया है। इसमें यह भी उल्लेख है कि यह चौहान पृथ्वीराज द्वारा पराजित हो गया था। महोबे के लोकप्रसिद्ध आल्हा और ऊदल संभवतः इसी राजा के सेनानायक थे।

वीरवमदेव— इतिहासकार स्व० डॉ. ज्योतिप्रसाद ने इसे चन्देल परमर्षिदेव का उत्तरवर्ती शासक बताया है। एक जैन-प्रतिमा को आसन पर अंकित एक लेख संवत् 1331 सन् 1274 का मिला है जिसमें इस राजा नाम का उल्लख भी किया गया है।

इस वंश के ये शासक जैनधर्म से उत्पन्न सहिष्णु और प्रबल पोषक रहे हैं। श्रीदेव, वामवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं का उन्मुक्त इनके राज्य में होता रहा है।

कच्छपघात राजवंश

इस राजवंश का ग्वालियर प्रदेश का शासन था। इसकी दो शाखाएँ थी-ग्वालियर का कच्छपघात राजवंश और दूबकुण्ड कच्छपघात राजवंश। इनमें दूबकुण्ड शाखा के राजवंश का परिचय दूबकुण्ड से प्राप्त ईसवी 1088 की एक जैन प्रशस्ति से ही ज्ञात होता है (2/228)।

राजा अर्जुन-कच्छपघात दूबकुण्ड शाखा के प्रथम शासक थे। वे भीम के समान बलशाली थे। पाण्डव अर्जुन के समान धनुर्धारी थे। वे कच्छपघात वंश के तिलक थे। इन्होंने विद्याधरदेव के प्रभाव में आकर अपने पिता युवराज का बाणों से कण्ठ छेद डाला था। इनकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त थी।

राजा अभिमन्यु-राजा अर्जुन का पुत्र था। यह भी धनुष-बाण चलाने में कुशल था। पराक्रमी इतना अधिक था कि अन्य शासकों को वह घास के समान तुच्छ समझता था। विद्वान् भोज राजा ने इसके सैन्य संचालन और शस्त्र-प्रयोग की प्रशंसा की थी।

राजा अभिमन्यु का पुत्र विजयपाल था। यह भी कीर्ति सम्पन्न था। शत्रु इससे भयाक्रान्त रहते थे। इसके शासन में प्रजा सुखी थी।

जिसके समय में यह प्रशस्ति लिखी गयी वह राजा था विक्रमसिंह। यह राजा अभिमन्यु का पुत्र था। इसका यश सर्वत्र व्याप्त था। यह महान् पराक्रमी और साहसी था। इसने मानियों का मान भंग किया था। राज्य को शत्रु-विहीन किया था।

इसके नगर का नाम चडोभ (दूबकुण्ड) था। इस नगर के धनिक जैनों ने यहाँ एक जैन मन्दिर बनवाया था। मन्दिर निर्माता दाहड़ को इसने 'श्रेष्ठी' पद से विभूषित करते हुए जैन मन्दिर के जीर्णोद्धार एवं व्यवस्था के लिए इस महाचक्र ग्राम में बीस गोणी गेहूँ बोये जा सकने योग्य भूमि (खेत), वापी सहित एक वाटिका तथा दीप जलाने के लिए दो करघटिका तेल दान में दिया था। एक विंशोपक कर भी लगाया था। इससे इसकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है। यह 'महाराजाधिराज' विरुद से अलकृत था। इस शाखा का यह अन्तिम शासक था।

यज्वपाल राजवंश

इतिहास में इस राजवश को नरवर के राजपूत नाम से जाना गया है। इस वश के चूडामणि राजा परमाडिराज थे। कचेरी लेख

में इनका नाम जयपाल बताया गया है। इसके पुत्र का नाम चाहडदेव था। इसके शासनकाल में नरवर-नलगिरि नाम से विश्रुत बताया गया है। यह महान् प्रतापी राजा था।

चाहडदेव का राज्य उसके मरणोपरान्त उसके पुत्र नखमदेव को मिला था। इसने यथोचित कर लगाकर समस्त भू-मण्डल का उपद्रव रहित कर दिया था। धार के राजा से चौथ वसूल की थी। नगर का नलगिरि से नरवर नामकरण सभवत: राजा के नाम पर किया गया है।

आसल्लदेव राजा नखर्मदेव का पुत्र था। इसके समय मे इसके नगर नलपुर की आबादी पौन लाख थी। शत्रु इससे भयभीत थे। इसके शासनकाल में जैत्रसिंह जायसवाल ने भीमपुर में एक जैन मन्दिर बनवाया था। प्रशस्ति का संवत् 1319 बताया गया है।

अन्य शासक

जैन अभिलेखों में जिन शासकों के नाम मिलते हैं वे हैं–ग्वालियर शाखा का कच्छपघातवशी राजा वज्रदामन. (सुहानियाँ प्रतिमालेख, नाहर जैन लेख संग्रह भा० 2 ले. स. 1426), परमार भोजदेव 2/228), कलचुरि गयाकर्णदेव (बहोरीबन्द लेख), चौहान पृथ्वीराज (मदनपुर लेख)

दक्षिण भारत के राजवंश

गंग वंश

जैनशिलालेख संग्रह भाग एक की प्रस्तावना में स्व. डॉ. हीरालाल जैन ने जैनाचार्य सिंहनन्दि को इस वंश का महान् सहायक बताया है (1/54)। गंग नरेश मारसिंह के वकापुर में शरीर त्याग करने (1/38) तथा उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल के मंत्री चामुण्डराय द्वारा (1/75-76) गोमटेश्वर प्रतिमा के उद्घाटित

किया जाना भी कहा है । गंगवज-मारसिंग नरेश की उपाधि (1/38) थी श्री जैन ने इसका भी उल्लेख किया है । ले. क्र. 2/277 में इसकी स्थापना गंगवादि में बताई गई है । ले क्र. 2/90 में कोंगणिवर्मा से माधववर्मा द्वितीय तक पांच नरेशों का उल्लेख हैं । इनमें माधववर्मा द्वितीय ने धर्मोद्धार किया था (2/94) । इसका विवाह कदम्बवंशी नरेश काकुत्थवर्मा की पुत्री से हुआ था (2/95) । राजा अविनील इसका पुत्र था (2/94) । यह जैनधर्मानुनायी था (2/95) । इसने जैन मन्दिरों को विविध प्रकार के दान दिये थे (4/20), इसके पुत्र का नाम दुर्विनीत था । इसके पश्चात् हुए नरेशों मे मुष्कर. श्री विक्रम, भूविक्रम, शिवमार प्रथम, श्री मुकष, शिवमार द्वितीय और मारसिंह प्रथम का वर्णन मिलता है (2/121-122) । मारसिंह द्वितीय द्वारा ईसवी 962 में अपनी माता द्वारा निर्मित मन्दिर के लिए एक गाँव दान में दिया था (4/85, 5/17) । ईसवी 938 के ले. क्र 2/142 में आदि से बुतुग द्वितीय तक राजाओं की वंशावली दी गई है । इस लेख से ज्ञात होता है कि बुतुग द्वितीय ने अपनी पत्नी द्वारा निर्मा-पित जैन मन्दिर के लिए कुछ भूमि दान में दी थी । बुतुग-राचमल्ल तृतीय का भाई एवं उत्तराधिकारी तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय अकालवर्ष का बहनोई और सामन्त राजा था । इसका पुत्र मारसिंह तृतीय इस वंश का प्रतापी राजा हुआ । इसने एक जन मन्दिर बनवाया था (2/149) ।

रक्कसगंग पेर्म्मानदि राचमल्ल पंचम अन्तिम राजा था । यह बुतुग द्वितीय की दूसरी पत्नी से उत्पन्न पुत्र वासव का पुत्र था । दसवीं सदी के अन्त के एक लेख में (4/96) इसके दान का वर्णन मिलता है । चहलदेवी इसी की पुत्री थी (2/213) । लेखों से ज्ञात होता है कि जैनधर्म को इस वंश से पर्याप्त संरक्षण मिला है ।

कदम्ब वंश

अभिलेखों में इस वंश का शुभारम्भ काकुत्थवर्मा (2/96) से हुआ है । इसके पुत्र का नाम शान्तिवर्मा था और शान्तिवर्मा के पुत्र

का नाम था मृगेशवर्मा। इसके द्वारा विभिन्न दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं (2/97, 2/98, 2/99) मृगेशवर्मा के तीन पुत्र थे- रविवर्मा, भानुवर्मा और शिवरथ। इनमें राज्य रविवर्मा को मिला था (2/100 102)। इसने भूमि दान किया था (4/21)। रविवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र हरिवर्मा हुआ (2/103-104) लेखों में इस *वंश के सामन्तों के भी उल्लेख हैं (4/60, 131, 162, 164, 169, 202, 214, 236, 238, 323, 325, 455* और *614)*।

चालुक्य वंश

पश्चिमी चालुक्य

इस वंश का संस्थापक पुलकेशी नामक सामन्त था जो पुलकेशी प्रथम के नाम से विश्रुत हुआ। ईसवी 489 के आड़ते से प्राप्त दान-पत्र में इसके पितामह का नाम जयसिंह और पिता का नाम दयाराम दिया है (2/106)। इसके उत्तराधिकारी पुत्र का नाम कीर्त्तिवर्मा था। इसने एक जिनालय को कुछ खेत दान में दिये थे (2/107)। ईसवी 751 में इसने एक मन्दिर भी बनवाया था (4/46)। इसके पश्चात् इसका पुत्र पुलकेशी द्वितीय राजा हुआ। ईसवी 624 के लेख में (2/108) इसकी दिग्विजय का उल्लेख है। इसने हर्षवर्धन को दक्षिण की ओर नहीं बढने दिया था। इसके पश्चात् इसका पतन हुआ (2/122, 123, 124, 127)। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकट राजा ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। पुलकेशी द्वितीय के पश्चात् उसके पौत्र विनयादित्य ने, (2/111), विजयादित्य (2/113) और विक्रमादित्य द्वितीय (2/114) ने शासन किया। इस शासक के पश्चात् इस वंश का पतन आरम्भ हुआ था। ईसवी 954 के निकट तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूट शासक को हराया और इस वंश का राज्य जमाया। इसका उत्तराधिकारी पुत्र इरिव बेडंग हुआ (2/166)। इसके उत्तराधिकारी जयसिंह द्वितीय का उल्लेख ई. 1027 के लेख में (4/124) में मिलता है। जयसिंह प्रथम द्वारा वासवचन्द्र को बाल-सरस्वती उपाधि दिये जाने का उल्लेख भी लेखों मे है (1/55)।

सोमेश्वर प्रथम जयसिंह तृतीय का उत्तराधिकारी हुआ (2/204)। इसकी रानी का नाम केतलदेवी का (2/186)। इसके शक संवत् 990 में जल में समाधिस्थ हो जाने का उल्लेख भी मिलता है (2/204)। इसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय हुआ (2/205)। इसके पश्चात् इसके भाई विक्रमादित्य षष्ठ ने राज्य किया (2/213,–219, 221, 227 237, 243, 247, 248, 251, 253, 267 273, 276, 277: 280, 288, 299 और 3/308)। इसका उत्तराधिकारी द्वितीय पुत्र सोमेश्वर तृतीय हुआ (2/218, 293)। इसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र जगदेकमल्ल था (5/45)। ईसवी 1067 में त्रैलोक्यमल्ल (5/40), ई. 1069 और 1071 में भुवनैकमल्ल (5/41 5/44) और त्रिभुवनमल्ल ने शासन किया। ईसवी 1081 में इसके शासनात्मक लेख मिले हैं (5/52, 5/53, 5/54 5/55, 5/56, 5/58, 5/81, 6/72, 5/80)। भूलोकमल्ल (3/356, 5/82) ईसवी 1130 और 1161 में राज्य करते लेखों में बनाये गये हैं। सोमेश्वर चतुर्थ अन्तिम राजा था (3/435)। ईसवी 1185 के (5/274) एक लेख में इसके दिये गये दान का उल्लेख है। पूर्वी चालुक्य शासकों में कुब्ज विष्णुवर्धन (2/143-144) का नाम मिला है।

राष्ट्रकूट-वंश

इस वंश की स्थापना आठवीं शताब्दी के मध्य में राजा दन्तिदुर्ग ने चालुक्य कीर्त्तिवर्मा से राज्य छीनकर की थी (2/290)। इसके उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम ने चालुक्यों का सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र अपने अधान कर लिया था। इसका अपर नाम वल्लभ था (2/123) इसका पुत्र ध्रुव (घोर) था। गोविन्द तृतीय इसका उत्तराधिकारी हुआ (5/9) (2/24) इसका पुत्र अमोघवर्ष था (2/127) और अमोघवर्ष का पुत्र था कृष्णराज द्वितीय (5/13) ई. 903 के एक लेख (2/137) में इसके दान का उल्लेख है। ईसवी 912 में भी इसका राज्य शासन था (2/140)। इसका उत्तराधिकारी पौत्र इन्द्र

तृतीय था। इसने दो मन्दिरों को आठ गांव दान में दिये थे (5/14-15)। इन्द्र चतुर्थ कृष्ण तृतीय का पौत्र था (2/163)। यह ईसवी 982 मे शासनारूढ़ था (1/38)। एक लेख (1/38) से ज्ञात होता है कि गंग नरेश मारसिंह ने गुर्जर प्रदेश को जीतकर इसका राज्याभिषेक किया था। कहा जा सकता है कि गंगवंश और राष्ट्रकूट वंश के घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

होयसल-वंश

इस वंश का बिनयादित्य द्वितीय प्रथम राजा था। इनके पिता होयसल नृपकाम थे (3/347)। इसके गुरु शान्तिदेव थे (1/54)। इसने अनेक तालाब और जैनमदिर बनवाये थे (1/53) (5/152)। इसकी रानी केलेयवरसि और एरेयंग पुत्र था (1/124)। एरेयंग के तीन पुत्र थे-रल्लाल, विष्णुवर्धन और उदयादित्य (2/265)। वल्लाल कुछ ही समय शासन कर सका (2/1।8)। इसके बाद इसके भाई विष्णुवर्धन ने शासन किया। इसे अनेक विरुद प्राप्त थे (1/56, 4 3, 53, 144, 138, 124, 127, 2/263, 264)। इसकी पत्नी का नाम था शान्तलदेवी। वह जैनधर्म परायणा थी (1/56) (4/188)। इसके दो पुत्र थे-त्रिभुवनकुमार बल्लालदेव और नरसिंहदेव (2/293)। नरसिंह प्रथम के राज्यकाल मे उसके मंत्री हुल्ल ने श्रवणवेलगोल में चतुर्विंशति जिन मन्दिर बनवाया था (1 128)। इसने भी ई. 1159 में दान दिया था (4/252)। इसका अनेक लेखों में उल्लेख है-(3/324, 3-8, 333, 339, 347, 348, 351, 352, 356, 363, 367)। नरसिंह प्रथम और रानी एचलदेवी का पुत्र वल्लालदेव द्वितोय अपने पिता के बाद राजा हुआ। इसका राजा ई. 1173 से ई. 1220 तक रहा (1/491, 3/373, 379)। इसने अनेक दान दिये थे (4/285, 286, 3 3)। इसका पुत्र नरसिंह द्वितीय हुआ। इसने विविध विरुद् धारण किये थे (1/91)। नरसिंह द्वितीय के उत्तराधिकारी सोमेश्वर का समय शक् संवत् 1170 है (1/499)। इसकी रानियों से दो पुत्र हुए थे-नरसिंह

तृतीय और रामनाथ। इनमें नरसिंह तृतीय ने शक सं. 1196 में भूमिदान का उल्लेख है।

चोल-वंश

इस वंश का परान्तक राजा ई. 945 में शासनारूढ था (4/82)। ईसवी 992 से 999 के लेखों मे (2/167, 4/92) राजराज प्रथम का नामोल्लेख मिलता है। ले. क्र. 2/171 इसके राज्य 21वे वर्ष का है। ई 1009 का एक लेख में (4/119) इसकी राजाज्ञा अंकित है। राजराज प्रथम का उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल प्रथम था (2/174। । इसके 11वीं सदी पूर्वार्ध के दो दानपत्र भी मिले है (4/121, 129)। इसका उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल द्वितीय था। इसके ई 1068 के दो दानलेख मिले हैं (4/150-151)। इसके कुलोत्तुंग प्रथम राजा हुए। इसके 5 लेख ई 4/167, 163, 194, 195, 198। कुलोत्तुंग के बाद विक्रमचोल राजा हुए। इनके ई. 1169 और 1134 के दो दान लेख मिले हैं (4/295, 219)। कुलोत्तुंग द्वितीय, राजराज द्वितीय और कुलोत्तुंग तृतीय नामक शासकों के भी उल्लेख मिले हें (4/223, 224, 226, 4/248-250, 324, 380)। उज्जिलि के दान लेख (5/104) में श्रीबल्लभ चोल शासक का नाम भी मिलता है।

कलचुरि वंश

इस वंश का उल्लेख ई. 634 के एहोल लेख में हुआ है -(2/108)। विज्जल इस वंश का प्रथम नरेश था। ले. क्रमांक 3/408 और 435 में इसके भाई का नाम मोलुगिदेव, पुत्रों के नाम-शोपिदेव (रायमुरारि), शंकम (नि:शंकमल्ल), आइनमल्ल (रायनारायण) और पौत्र का नाम कन्दर बताया गया है। बल्लाल द्विरीय होयसल से यह पराजित हो गया था (3/448, 465)। ईसवी 1159 के एक लेख के एक लेख में इसके सेनापति द्वारा दान दिये जाने का वर्णन

है। (4/251)। ईसवी 1161 से 1168 तक के अन्य चार लेखों में भी (4/256, 260–262) इसका नामोल्लेख हुआ है।

बुन्देलखण्ड–बहोरीवन्द लेख में भी इस वंश के राजा गयाकर्ण और उसके महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव का नामोल्लेख मिलता है। गोल्हणदेव को राष्ट्रकूट कुलोद्भव कहा गया है। इससे कलचुरि और राष्ट्रकूट शासकों के घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात होते हैं। यह लेख 12वीं सदी-पूर्वाध का बताया गया है (4/217)।

पाण्ड्य वंश

इस वंश के राजा वरगुण विक्रमादित्य का एक सातवी सदी का दानलेख मिला है (4/23)। दूसरे शासक सुन्दर का नामोल्लेख आठवी सदी के एक लेख में है (4/50)। वरगुण द्वितीय का शासन ई० 870 में था (4/58)। इस वंश का अवनिय शेखर चौथा नृप था (4/62 नवीं सदी) अन्तिम क्रमांक 4/356 ईसवी 1290 का है। इसमें मारवर्मन नामक इस वंश के राजा का उल्लेख किया गया है।

पल्लव वंश

इस वंश के तीन शासकों के नामोल्लेख मिलते हैं – राजा सिंहविष्णु–छठी सदी पूर्वार्ध का लेख क्र 4/20, राजा पल्लवादित्य–सातवीं आठवी सदी का लेख क्रमांक 4/29 और पेरुजिगदेव लेखक क्रमांक 4/537।

यादव वंश

इस वंश की उत्पत्ति विष्णु से मानी गयी है। लेख में इस वंश के सेउणचन्द तृतीय का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है (3/317)। इसके पश्चात् ईसवी 1198 के एक लेख से (3/421) भिल्लभ पंचम का पुत्र जैशपाल शासक हुआ ज्ञात होता है। इसके पुत्र सिंहण का

राज्य ई० 1191 से 1247 ई० तक रहा। इसके ई० 1230 के एक लेख में इसके दान का उल्लेख है (4/326)। ई० 1245. 1247 के इतर तीन लेख है। 4/328-330) जिनमें तीन महाप्रधानों — प्रभाकरदेव, मल्ल तथा वीचिराज द्वारा किये गये दानों का उल्लेख है। इसका उत्तराधिकारी इसता पौता चन्द्रदेव था इसके दान का उल्लेख करने वाला प्रथम लेख ई० 1248 का है (5/141)। चार लेख ऐसे भी मिले हैं जो ई० 1258 से 1248 तक के हैं (4/334, 336 337, 339)। इसके पश्चात् कन्धारडेव का सहादर महादेव राजा हुआ। ई० 1265 से 1269 के इसके तीन लेख मिले है 4/340 341, 344)। इस वश का रामचन्द्र या रामदेव अन्तिम शासक है जिसके जैन अभिलेख मिले हैं (3/538, 540, 541)। ये लेख ईसवी 1292 से 1.95 तक के है। ईसवी 1295 से 1297 के चार लेख ऐसे मिले हैं जिनमें क्रमशः मन्दिर निर्माण, समाधि, दान और मन्दिर के जीर्णोद्धार का वर्णन (4352, 354, 355, 359)। ईसवी 1271 का भी एक समाधि लेख (5/142) मिला है। ईसवी 1283 का सुनकाटि समाधि लेख भी इसी के राज्यकाल ई० 1283 का है। ईसवी 1293 के हिरेआणजी दान लेखों में इस राजा के महाप्रधान परशुराम का नामोल्लेख है 5/150-151)।

विजयनगर राजवश

विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक अपने को यादव वंश का मानते हैं (3/585)। संगमेश्वर संस्थापक था (3/561)। इसका पुत्र हरिहर प्रथम था। वह महामण्डलेश्वर राजा था। (3/558, 559). इसके समय में ईसवी 1355 में जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई थी (4/393) बैच इसका मंत्री था (5/182)। हरिहर प्रथम का उत्तराधिकारी उसका भाई बुक्काराय हुआ इसने ईसवी 1355 से 1377 ईसवी तक राज्य किया। एक लेख में इसे बुक्काराय (3 562) और एक में पूर्व-दक्षिण-पश्चिम समुद्राणीश्वर 3/569)। ईसवी 1357 और 1376 के दो लेख मिले हैं (5/394, 396)। इसका

उत्तराधिकारी पुत्र हरिहरराय द्वितीय था। इसने ईसवी 1377 से 1404 इसवी तक राज्य किया (3/579, 581, 585, 589)। यह ईसवी 1404 में दिवंगत हुआ (1/126)। इसका उत्तराधिकारी पुत्र बुक्क द्वितीय हुआ। इसके 14वी सदी के दो लेख मिले हैं जिसमें एक शान्तिनाथ मन्दिर निर्माण का और दूसरा लक्ष्मीसेन भट्टारक के समाधिमरण का है (4/406, 415)। इसका उत्तराधिकारी भाई देबराय हुआ। ईसवी 1412 और 1424 के दो लेख ग्राम दान और मन्दिर सीमा समझौते के है। इसका हरिहरराय नाम पुत्र था (3/615)। देवराय का उत्तराधिकारी बुक्क तृतीय (विजय) था। इसने गुम्मटनाथ की पूजा की थी (3/618)। इसका उत्तराधिकारी देवराय द्वितीय हुआ (3/619-620)। इसवी 1446 में यह स्वर्गवासी हुआ (1/125)। इसका पुत्र मल्लिकार्जुन था। ईसबी 1450 में (इसके सतय में) लिखे गये एक लेख में मन्दिर को मिले दानों का वर्णन है (4/440)। इसके पश्चात् विरूपाक्ष तृतीय गद्दी पर बैठा था (ईसवी 1472 का 3/649)। इसके तुलुक वंश के कृष्णदेव राय का शासन हुआ। ईसवी 1509 के एक लेख में (4/456) मन्दिर भूमि को कर मुक्त करने का वर्णन है। ईसवी 1515 के लेख में (5/232) इसके सामन्त के दान का उल्लेख है : राजा अच्युतदेव ईसवी 1530 में (4/467), राजा सदाशिव ईसवी 1545 में (3)473) बेंकराद्रि ने ईसबी 1608 (3/691 में और वेंकराद्रि द्वितीय ने ईसवी 1657 में (3/710) राज्य किया था ।

मैसूर राज्यवंश

लेख 1/84 शक संवत् 1556 का है। इसमें नरेश चामराज ओडेयर का नामोल्लेख है लेख 1/140 शक 1556 का ही और भी मिला है। लेख 1/444 में चिक्कदेवराज ओडेयर का और 1/83 शक संवत् 1645 में कृष्णराज ओडेयर के नाम हैं। लेख 1/98, 433-434 भी इसी वंश से संशोधित हैं। कृष्णराज चतुर्थ के राज्य-काल के दो लेख है-3/758 (सन् 1828) और 3/764 (सन् 1829)।

दक्षिण भारत के अचर्चित अन्य राज्यवंश

कोंगाल्व वंश – इस वंश के शासकों का उल्लेख लेख 1/500 में मिलते हैं। ले. नं. 3/188-190 में राजेन्द्र कोंगल का नामोल्लेख है।

चगल्व वंश—लेख नं 1/103 में इस वंश के शासक द्वारा शक सं. 1422 में गोमटेश्वर की ऊपरी मंजिल का जीर्णोद्धार कराये जाने का उल्लेख है। संबंधित अन्य लेख हैं—3/175, 195, 196, 223, 240, 241, 377, 661।

निडुगल वंश—लेख 1/42 में राजा इरूंगोल के सिद्धान्तदेव का शिष्य होने और ले 1/138 में उसके विष्णुवर्धन से पराजित होने का उल्लेख है। ले नं. 3/478 में इस वंश के क्रमश: निम्न राजाओं के नाम मिलते हैं—मंगि, नब्बि, गोविंद, इरूंगोल प्रथम, भोगनृप और वर्म्भ तथा इरूंगोल द्वितीय। ले. 3/521 में इरूंगोल द्वितीय के दान का वर्णन है। ले. नं. 1/138, 82 में इरूंगोल प्रथम को जैन होना बताया गया है।

सेन्द्रक वंश—ले. नं. 1/104, 106, 109 से इस वंश के राजा जैन धर्मानुयायी ज्ञात होते हैं। इस वंश के सामन्त भानुशक्ति राजा ने कदम्ब हरिवर्मा से जैन मंदिर को दान दिलाया था (1/104) यामंत सामियार ने जैन मन्दिर बनवाया था (1/106) और दुर्गशक्ति ने जैन मंदिर को दान दिया था (1/109)।

नोगुंन्ब वंश—इस वंश के दुन्डु और उसके पुत्र परगूल दो जैन शासकों के नामोल्लेख मिले हैं (1/129)।

शान्तर वंश – जैन लेखों में जिनदत्तराय इस वंश के संस्थापक बताये गये हैं। इसने एक राक्षस पुत्र को भयभीत किया था (3/146, 298)। जिनदत्तराय ने अपना शासन हुम्मच में स्थापित किया था (3/213, 248)। इसके पश्चात् विक्रम शान्तर राजा हुआ। इसने

महादान देकर सान्तलिगे पृथक् राज्य स्थापित किया था तथा कन्दुकाचार्य, दानविनोद विक्रमशान्तर नाम के प्रसिद्ध हुआ था (3/132, 213)। ई. 1053, 1162, 1410 और 1522 के चार लेखों में (4/137, 258 422, 461) दान का वर्णन है। यह दान तैल प्रथम के पुत्र वीर शान्तर द्वितीय ने किया था। ले नं 3/197 में इसके अनेक विरुद्ध धारण करने और ले. नं 3/198 में निष्कण्टक राज्य करने का उल्लेख है। इसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल था। रक्कस गंग इसका ससुर था। कंचल देवी इसकी पत्नी थी। इसके चार पुत्र थे तैल, गोग्गिग, ओडुग और वर्म्य (3/212) तैल शान्तर के सात लेख मिले हैं 3/203, 212, 213, 214, 215, 216, 226। तैल शान्तर की एक पुत्री और श्रीवल्लभ नाम का पुत्र था (3/248, 326)। ओडुग शान्तर का तैल तृतीय पुत्र था। तैल चतुर्थ श्रीवल्लभ का पुत्र था। अक्कादेवी इसकी पत्नी और काम, सिंह तथा अम्मण ये तीन पुत्र थे। काम राजा बना। इसका उत्तराधिकारी इसका पुत्र जगदेव हुआ 3/349)। कारकल की बाहुबली प्रतिमा की प्रतिष्ठा इसी वंश के भैरव के पुत्र वीरपाण्ड्य ने कराई थी (3/624, 627)।

चेर वंश—इस वंश के पुरुषों के नाम मिलते हैं यवनिका सरदार, राजराज सरदार और पेरुमाल अपर नाम तटकानाथ। इनमें तटकानाथ ईसवी 1198-1200 में विद्यमान था (3/434)।

शिलाहार वंश - ये जीमूतवाहन के वंशज बताये गये हैं। जतिग इस वंश का प्रमुख था। इसके चार पुत्र थे-कोंकल, गूबल, कीर्तिराज और चन्द्रादित्य। इनमें कोंकल का पुत्र मारसिंह हुआ। इसके पांच पुत्र थे-गूवल, भंगदेव, वल्लाल, भोजदेव, गण्डरादित्य। विजयादित्य इसी गण्डरादित्य का पुत्र था (3/320, 334)। बल्लाल और गण्डरादित्य ने जैन मुनियों को भवन दान में दिया था (3/250)। गण्डरादित्य के ई. 1115 में जैन सामन्त नोलम्ब को दो गांव दान में देने का उल्लेख भी मिलता है (4/192)। लेख 4/221-222 में

गण्डरादित्य के सामंतनिम्ब का वर्णन है। इसने ई. 1135 एक जैन मन्दिर बनवाया था (4/259)। इस वश के तीन लेख और मिले है–1/250, 320, 334।

रट्ट वंश–इस वश के शासक राष्ट्रकूट एवं चालुक्य नरेशों के सामंत थे। इस वश का मेरड-पुत्र पृथ्वीराम राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की आधीनता में अधिकारी बना था (3/130, 160)। इस वश का अभ्युदय ई 978 से 1229 ई. तक रहा (3/366, 446, 449, 453, 453, 454, 470)। इस वश का राजा कार्तवीर्य द्वितीय 11वीं सदी मे (4/176), लक्ष्मीदेव ई. 1108 में (4/186), कार्तवीर्य तृतीय ई. 1165 में (4/259) तथा ई. 1201 और 1204 में कार्तवीर्य चतुर्थ के होने के प्रमाण (4/317, 318, 319) मिलते हैं।

सिन्दकुल—आठवीं सदी में इस कुल के राज्य में एक मन्दिर बना था (5/8)। चार सामान्त में–कंचरस, बमदेवरस, होलरस और चाबुण्डरस के क्रमशः ईसवी 1053, 1085, 1167 और 1170 के लेख (3/138, 166, 261, 264) भी मिले हैं।

नोलम्ब–इस वंश के चार लेख मिले है-4/59, 61, 123, 139।

काकतीय वंश—इस वंश का एक लेख ई. 1117 का (4/197) मिला है।

गुहिलोत वंश—राजा जैत्रसिंह का एक लेख 12 वीं सदी का (5/113) मिला है।

तोमर वंश–इस वंश के लेख ग्वालियर से मिले हैं—5/199, 202, 205-6।

अभिलेखीय–तथ्य

भाषा और लिपि—गुप्तकाल में ब्राह्मी लिपि और संस्कृत का

प्रयोग हुआ किन्तु गुप्तोत्तर काल में ब्राह्मी के स्थान में नागरी लिपि का प्रयोग हुआ है।

अभिलेख-समय— गुप्तों के अभिलेखों में गुप्त सम्वत् मिलता है। जहाँ विक्रम संवत् प्रयुक्त हुआ है, केवल संवत् लिखा गया है। इस प्रकार संवत् प्रयोग में अस्पष्टता रही है।

अक्षर—अक्षरों का आकार उत्तरोत्तर परिमार्जित होता हुआ दिखाई देता है। प्राचीन लेखों के अक्षरों का आकार इतना विचित्र होता है कि साधारण पुरुष तो पढ़ ही नहीं सकता। मात्रा प्रयोग भी भिन्न है।

प्रतिष्ठा-स्थल— अभिलेखों में सामान्यतः ग्रामों के नाम संस्कृत भाषा को सातवी विभक्ति के एक वचन में मिले हैं। उदाहरणार्थ जयतपुरे (अहार ले. सं. 332) मदनसागरपुरे (अहार ले. सं. 272), महिषणपुरे आदि (अहार ले. स. 244, 246)। ऐसे ग्रामों के नामोल्लेखों से प्रतिष्ठा इन ग्रामों में सम्पन्न हुई, ज्ञात होती है जबकि यथार्थता यह है कि प्रतिष्ठा कराने वाले श्रावक इन ग्रामों के निवासी थे। प्रतिष्ठा कार्य अहार में सम्पन्न हुआ था।

व्यक्तियों के नाम—वर्तमान नामों के समान 12-13 वीं सदी के नाम भी चन्द्रपाल और देवान्त मिलते हैं। जैसे देवपाल, रत्नपाल, पूर्णचन्द्र, उदयचन्द्र (अहार ले. सं एक), माणिक्यदेव, गुण्यदेव आदि (अहार ले 305)। यह बात अवश्य है लाल, राज, सिंह, मल आदि प्रत्यय जिन नामों के अन्त में होते हैं ऐसे नाम अभिलेखों में (प्राचीन) नहीं मिल हैं। अधिकतर नाम एक शब्दात्मक होते थे। जैसे नल, नवल, आढू, कामे, कीसू, कूके, खोने, देदू, नीने आदि। पुरुषों के नाम प्रायः ल्क, ल्ह, ल्हण, ल्हुं, ल्हुण, ल्हे आदि से अन्त हुए हैं जैसे- आल्क, उल्के, आल्ह, जाल्ह, पाल्ह, ल्प्रल्हण, कल्हण, माल्हु, वाल्हु, लील्हुण, वील्हे, सेल्हे आदि।

इन नामों के सम्बन्ध में श्री दौलतसिंह लोढा का चिन्तन उल्लेखनीय है। उन्होने आचार्य यतीन्द्रसूरि के जैन प्रतिमा लेखसंग्रह की प्रस्तावना मे लिखा है कि इन नामों की रचना और आकृति में अशान्तयुग झलक रहा है। इस समय क्रोध, उत्साह घृणा, जुगुप्सा, आक्रोश के भार पनप रहे थे। दसवीं शताब्दी से बढ़ते हुए यवन आक्रमणों का इन पर प्रभाव है।

प्राय: देखा गया है कि मनुष्य जब क्रोधातुर होता है तब वह राग-द्वेष भरे शब्द बोलता है। उस समय वह मेघराज को मेवा और रामचन्द्र को रामा कहता है। इसी प्रकार युद्ध के समय देल्हण मल्हण माल्हे वाल्हे आदि नामों का प्रयोग करता है, क्योंकि ऐसे नाम उत्साहवर्धक होते है।

अभिलेखों में प्रयुक्त ये नाम हास्य, वीर, और रौद्र (रजोगुणी) तथा भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों (तमोगुणी) के पूरक हैं। 11वीं सदी से 16वीं सदी के मध्य व्यापारी, शूद्र और कृषक वर्ग पद दलित और आतंकित रहा। विप्र और क्षत्रिय इन्हें अपमान-जनित शब्दों से बुलाते थे। मूलचन्द्र को मूला, मूले, मूलिया कहा जाता था। इसी प्रकार योद्धाओं के नाम भी बदल दिये जाते थे। जैसे यदि किसी योद्धा का नाम मूलसिंह हुआ तो उसे मल्हण, मूल्लण या मूलसी कहते थे। अन्तर यह अवशय रहा कि मल्हण मूल्लण नाम वणिक् वर्ग के और मूलिया मूला मूल्या शूद्र वर्ग के नाम हुए।

ये नाम उस युग की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक ग्रन्थियाँ हैं। उस युग के वातावरण के प्रतीक हैं, नैतिक सम्बन्धों के घट हैं और हैं स्रोत अतीत को जानने/समझने के/नामों की आकृति-उपहास एवं बिस्मय की वस्तु ही नहीं है। वह इतिहास की संरक्षणीय एवं सग्रहणीय सम्पत्ति भी है।

प्रस्तुत लेख में दि० जैन शिलालेख संग्रहों और उनमें दी गयी प्रस्तावनाओं का सहयोग लिया गया है, अत: प्रस्तावना-लेखकों,

अभिलेख संकलनकर्त्ताओं और प्रकाशकों का लेखक हृदय से आभारी है। आदरणीय डॉ. कोठिया जी के समय-समय पर प्राप्त सुझावों से लेख में प्रामाणिकता आई हैं। मुझे सदैव आशीर्वाद मिलता रहे। वे चिरायु हों। मेरी यही हार्दिक कामना है।

[नोट : लेख के कोष्ठकों में-माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई और भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रहों की लेख संख्या दी गई हैं। इसमें तिरछी खड़ी रेखा के पूर्व जैन शिलालेख संग्रह की भाग संख्या और बाद में लेख सख्या है। अहार लेखों को लेख संख्या "अहार के जैन अभिलेख" मेरी अप्रकाशित रचना से दिये गये हैं]।

वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	जैन तर्कशास्त्र अनुमान विचार (न्याय)	अप्राप्त
2.	देवागम अपरनाम आप्त मीमांसा (दर्शन)	10-00
3	युगवीर निबन्धावली भाग-I (संस्कृति)	अप्राप्त
4.	युगवीर निबन्धावली भाग-II (संस्कृति)	अप्राप्त
5.	प्रमाण निक्षेप प्रकाश (सिद्धान्त)	अप्राप्त
6.	लोक विजययंत्र (ज्योतिष)	25-00
7.	नयी किरण नया सवेरा (धार्मिक लघु उपन्यास	अप्राप्त
8.	प्रमाण परीक्षा (न्याय शास्त्र)	15-00
9.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार)	अप्राप्त
10.	जैन धर्म परिचय (धर्मशास्त्र)	5-00
11.	आरम्भिक जैन धर्म	4-00
12.	करणानुयोग प्रवेशिका	10-00
13.	द्रव्यानुयोग प्रवेशिका	5-00
14.	चरणानुयोग प्रवेशिका	8-00
15	महावीर वाणी (सिद्धान्त संकलन)	अप्राप्त
16	मंगलायतनम	10-00
17.	ऐसे थे हमारे गुरुजी	3-00
18	जैनदर्शन का व्यवहारिक पक्ष (अनेकान्तवाद)	2-00
19	भगवान महावीर का जीवन-वृत्त	2-00
20.	जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन	अप्राप्त
21.	समाधि मरणोत्साह दीपक (द्वि. सं.)	6-00
22.	तत्वानुशासन (ध्यान शा.)	अप्राप्त
23.	प्रमेयकण्ठिका (न्याय)	5-00
24.	जैन तत्त्वज्ञान मीमांसा	अप्राप्त

25.	द्वापर का देवता अरिष्टनेमि	12-00
26.	श्रावकाचार	10-00
27.	आराधनासार सटीक (हिन्दी अनुवाद सहित)	10-00
28.	सम्यक्त्व चिन्तामणि	अप्राप्त
29.	समन्तभद्र ग्रन्थावली	40-00
30.	पत्र परीक्षा	10-00
31.	पर्याऐं क्रमबद्ध भी होती है/अक्रमबद्ध भी	अप्राप्त
32.	सिद्धान्त-सार	4 00
33.	ज्ञान सार	4 50
34.	भाग्य और पुरुषार्थ, एक नया अनुचिन्तन	अप्राप्त
35.	आप्त मीमांसा देवागमस्तवक पद्यानवाद	अप्राप्त
36.	सज्ज्ञान चन्द्रिका	15 00
37.	चंदप्पह चरिउ	25-00
38.	सम्यक चारित्र चिन्तामणि	35-00
39.	पंडित प्रवर आशाधर	10-00
40.	यापनीय और उनका साहित्य	40-00

सन्त शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज के गुरु आ. प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा लिखित सम्पूर्ण ग्रन्थ भी ट्रस्ट प्रकाशन के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हैं । 24 पुस्तकों का सेट 60/- में उपलब्ध है।